

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186721

UNIVERSAL
LIBRARY

हमारा संविधान

इकबाल नगायन

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 320/E 64 H

Accession No. H 12343

Author शुक्लान्न नारायण

Title हमारा संविधान 1952

This book should be returned on or before the date last marked below.

हमारा संविधान

लेखक

इकबाल नरायन

एम० ए० (राजनीति शास्त्र), एम० ए० (इतिहास),

इतिहास तथा राजनीति विभाग,

आगरा यूनिज. आगरा

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी लिमिटेड

पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता

आगरा

प्रकाशक

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं० लि०

आगरा

प्रथम संस्करण : १५ सितम्बर १९५२

मूल्य २।।)

मुद्रक

अमृत इलेक्ट्रिक प्रेस,
बेलनगंज, आगरा

To
Our Republic !

*Thou, too, sail on, O Ship of State!
Sail on, O Union, strong and great !
Humanity with all its fears,
With all the hopes of future years,
Is hanging breathless on thy fate !*

—Longfellow.



दा शब्द

इस छोटी सी पुस्तक के बीज भारतवर्ष के नवीन विधान के संबंध में इण्टरमीडिएट और बी.ए. के छात्रों को दिए जाने वाले लेक्चर्स में निहित थे। अध्यापन के समय में मुझे एक ऐसी पुस्तक की कमी का अनुभव हुआ जिसमें नवीन विधान से सम्बन्धित समस्त सामग्री को सुगठित, सरल, विवेचनात्मक एवं आलोचनात्मक ढंग से रखा गया हो। इस हेतु मैंने इसी कमी को पूरा करने की चेष्टा की है। मैं अपने प्रयत्न में कहाँ तक सफल हुआ हूँ इसका निर्णय करना मेरा कार्य नहीं।

यह पुस्तक लिखते समय मैंने प्रसिद्ध लेखकों के भारतीय संविधान से सम्बन्धित ग्रन्थों और विधान सभा के वाद विवाद की प्रकाशित सूचनाओं से सहायता ली है। इस कारण मैं अपने में मौलिकता का गर्व नहीं करता और उन समस्त लेखकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थों से मैंने सहायता ली है।

इस विषय की विवेचना करते समय मैंने अपना दृष्टिकोण व्याख्यात्मक तथा आलोचनात्मक रखा है, तथा ज्ञान के इन दोनों स्रोतों को समान महत्व प्रदान किया है। मेरा विचार है कि किसी विषय को भली प्रकार समझने के हेतु स्पष्ट विश्लेषण की आवश्यकता है—इस के पश्चात् ही मौलिक विचारों का जन्म हो सकता है। आलोचना, मेरे विचार से, मौलिक विचार की सहायक है, और इसीलिए मैंने विश्लेषण और आलोचना को मिला दिया है।

भारतीय संविधान के पूर्ण बहिष्कार और देव समान स्तुति को त्याग मैंने अपने व्यवहार को संतुलित रखने की चेष्टा की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह स्वतन्त्र भारत के नागरिकों का प्रशंसनीय प्रयत्न है। परन्तु यह भी सत्य है कि मानव कार्य होने के नाते यह पूर्ण भी नहीं है। परन्तु इसकी अपूर्णता से हमें निराश नहीं होना चाहिए। क्योंकि विश्व के अन्य विधानों के समान यह भी कालान्तर में ही पूर्ण हो सकेगा। यदि इस पुस्तक के अध्ययन से विद्यार्थी अपने मातृ भूमि के इस नवीन विधान के प्रति आलोचनात्मक प्रवृत्ति और संतुलित प्रेम जाग्रत कर सकें तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

इस पुस्तक को हिन्दी भाषा में प्रस्तुत करने में जमा याचना की आवश्यकता नहीं। क्योंकि किसी विदेशी भाषा के कोष को भरने की अपेक्षा अपनी मातृ भाषा को अर्लक्ष्य करना कहाँ अधिक उत्तम है। आज जब कि भारतवर्ष हिन्दी भाषा को राष्ट्र भाषा का स्वरूप प्रदान करने के लिए भगीरथ प्रयत्न कर रहा है और विद्यार्थी समुदाय

(ख)

भी अपनी भाषा ही में ज्ञानोपार्जन को सरल तथा हितकर समझ रहा है तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरी यह पुस्तक अवश्य अपनाई जाएगी ।

अन्त में उन समस्त व्यक्तियों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना अपना पावन कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने इस कार्य के सम्पादन के लिए मुझे प्रोत्साहित किया । इस सम्बन्ध में मैं विशेष रूप से अपने विद्यार्थियों के प्रति अनुग्रहीत हूँ जिन्होंने मुझे इस प्रकार की पुस्तक लिखने के लिए अत्यन्त प्रेरणा प्रदान की । अपनी भगिनी सरस्वती, शीला और राजरानी को भी मैं धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता क्योंकि साहित्य सेवा के लिए वे ही मुझे प्रेरित करती हैं ।

मैं इसी आशा के साथ यह शब्द समाप्त करता हूँ कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए लाभदायक सिद्ध होगी जो प्रत्येक पुस्तक तथा विशेष रूप से इस पुस्तक के सम्बन्ध में विचार और साहित्यिक प्रयत्न के प्रेरक हैं ।

आगरा कालिज,

आगरा

६-६-१९५२

लेखक

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
पहला अध्याय	विशेषताओं का अध्ययन	... १
दूसरा ,,	नागरिकता	... २३
तीसरा ,,	मौलिक अधिकार	... २५
चौथा ,,	राजनीति के निर्देशक सिद्धान्त	... ४५
पाचवाँ ,,	संघीय संसद	... ५५
छठवाँ ,,	राष्ट्रपति	... ६७
सातवाँ ,,	प्रधान मंत्री और मंत्रिमंडल	... ८७
आठवाँ ,,	सर्वोच्च न्यायालय	... ८५
नवाँ ,,	राज्य की व्यवस्थापिका सभाएँ	... १०२
दसवाँ ,,	राज्य की कार्यकारिणी	... ११३
ग्यारहवाँ ,,	राज्य के न्यायालय	... १२३
बारहवाँ ,,	शक्ति वितरण	... १२८
तेरहवाँ ,,	पब्लिक सर्विस	... १३४
चौदहवाँ ,,	विधान का संशोधन	... १४०
पन्द्रहवाँ ,,	सन् १९५१ का विधान (प्रथम संशोधन) एक्ट	... १४३
	अनुक्रमणिका	१
	अनुक्रमणिका	२
	अनुक्रमणिका	३

पहिला अध्याय

विशेषताओं का अध्ययन

“स्वयं द्वारा संचालित जनता की सरकार का एक अर्थ और महत्व होता है, परंतु अन्य राष्ट्र द्वारा संचालित किसी देश की सरकार जैसी वस्तु न स्थिर रहती है और न रह सकती है। एक राष्ट्र दूसरे को अपने लाभ के लिए धनोपार्जन के स्थान के समान रख सकता है, (इस प्रणाली में शासित जनता) एक प्रकार का मानवों का बाड़ा है जिसे कोई राष्ट्र अपने लाभ के लिए रखता है।”^१

—जान स्टुअर्ट मिल

समस्त विश्व में ही ‘स्वराज्य’ से लोगों ने प्रेम किया है, उसी के लिए वे जीवित रहे और मरे हैं। दार्शनिकों ने बड़े विचारपूर्वक ‘स्वराज्य’ की स्तुतियाँ गाई हैं। कवियों ने अपनी मनोहर कल्पनाओं द्वारा इसकी प्रशंसा की है। इसलिए यह स्वभाविक ही है कि विश्व के नागरिक अपने देशों के स्वनिर्मित विधान के प्रति श्रद्धा का भाव रखते हैं क्योंकि वह उनके स्वशासन के पावन अधिकार का सूचक और उसका रक्षक है। और इस प्रकार यदि एक ओर अंग्रेजी विधान के प्रशंसक दार्शनिक और कवि आदि हैं, तो दूसरी ओर अमरीका के विधान के प्रति भी श्रद्धा रखने वाले अनेक अमरीका निवासी हैं। फिर भी भारतवर्ष के गणतन्त्र विधान को, जो स्वतन्त्रता के हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की विजय का सूचक है, पुजारियों की अपेक्षा आलोचक ही अधिक प्राप्त हुए हैं। हमारे देश में ही कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जिनका हार्दिक भाव यही है कि यह नवीन विधान बिल्कुल व्यर्थ है और जितनी शीघ्रता से इसे समाप्त कर दिया जाय भारतवर्ष के लिए उतना ही अच्छा है। उदाहरणस्वरूप समाजवादी नेता श्री जय-प्रकाशनारायण ने २६ जनवरी सन् १९५० को लिखा था :—

1 “The government of a people by itself has a meaning and a reality, but such a thing as government of one people by another does not, and cannot exist. One people may keep another for its own use, a place to make money in a human cattle farm for the profits of its own inhabitants.”

—John Stuart Mill.

“अन्त में हमें यह विस्मरण नहीं कर देना चाहिए कि जो विधान आज से लागू हुआ है, और जिसके द्वारा इस गणतन्त्र का जन्म हुआ है, वैयक्तिक स्वतंत्रता और सामाजिक निष्पक्षता दोनों के लिए वह स्वयं अत्यधिक संकट स्रोत है। इस हेतु जितनी शीघ्र हो सके, नवीन विधान निर्मित करने के लिए वास्तविक रूप से एक प्रतिनिधात्मक विधान सभा को आमंत्रित करना चाहिए, जो विधान सामाजिक स्वतंत्रता का उचित साधन बन सके।”^१

इस प्रकार भारतीय विधान की प्रशंसा का विषय प्रामाणिक महत्व का है। क्योंकि इस छान बीन का अर्थ होगा अपने ३०० भारतीय साथियों के निस्वार्थ परिश्रम का निर्णय, जिन्होंने दो वर्ष, ग्यारह मास और सत्रह दिन के कठिन परिश्रम के पश्चात् अपने ज्ञान की आभा से परिपूर्ण भारत माता को यह विधान सौंपा। क्या यह सत्र परिश्रम व्यर्थ ही है और क्या यह त्याज्य ही है? इस प्रश्न का उत्तर स्वतंत्र भारत के इस विधान की मुख्य विशेषताओं के अध्ययन तथा इस पर लगाए गए आरोपों तथा आक्षेपों के निष्पक्ष निरीक्षण के पश्चात् ही दिया जा सकता है।

निम्न पृष्ठों में इसी की चेष्टा की गई है।

मुख्य विशेषताएँ

गणतन्त्र विधान की मुख्य विशेषताओं का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

- (१) लेख-पत्र के रूप में विधान।
- (२) राजनैतिक व्यवस्था के रूप में विधान।
- (३) संघीय योजना के रूप में विधान।

(१) लेख-पत्र के रूप में विधान

लेख-पत्र के रूप में भारतीय विधान की प्रधान विशेषता है उसका विस्तृत एवं व्यापक स्वरूप। इस विधान में ३६५ धारा और ८ सूचियाँ हैं। डाक्टर अम्बेडकर का यह कथन केवल कल्पना की उड़ान ही नहीं है कि यह विधान विश्व के अन्य समस्त विधानों से विस्तृत है। तृतीय गणतन्त्र के अन्तर्गत यदि फ्रांस का विधान “अपनी संहिता, अपूर्णता, स्पष्ट शब्दावली की न्यूनता और अद्भुत सिद्धान्तों” की विशेषताओं का एक आदर्श है, तो भारतीय गणतन्त्र विधान अपने व्यापकत्व, स्पष्ट वक्तव्य और महत्वपूर्ण आदर्श के कारण अपना एक पृथक् स्थान रखता है। यह विशेषताएँ इसमें उदार, प्रजातन्त्रात्मक और शान्तिपूर्ण भावनाओं के साथ रखी गई हैं। यदि अमरीका के विधान निर्माताओं ने अपने विधान को, जैसा कि रसेल लॉवेल (Russell Lowell) ने लिखा है, अनुभव, दोष और दोष-सुधार की प्रणाली द्वारा

^१ ‘जनता’ के ‘गणतन्त्र अंक’ से।

“काल् चक्र पर बुने जाने के लिए” छोड़ दिया था, तो भारतीय विधान निर्माताओं ने सम्पूर्ण ताने-बाने की स्वयं ही बुनने की चेष्टा की है, और उसकी समाप्ति पर उसकी पूर्णता और आदर्श के कारण उन्हें गर्व है।

इस सम्बन्ध में हमारा विधान विश्व के अन्य विधानों से भिन्न है। विश्व के अनेक विधानों में शासन प्रणाली के संचालन हेतु केवल सामान्य सिद्धान्त और व्यापक नियम ही दिए गए हैं। शासन प्रणाली से सम्बन्धित नियमों और प्रणाली के व्यापकत्व के निर्देशन का भार उनमें व्यवस्थापिका सभाओं पर छोड़ दिया गया है, जो परिस्थिति अनुसार उसे व्यापक बनाती चलीं। परन्तु भारतीय विधान में अनेक नियमों का व्यापक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार भारतीय विधान केवल केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकार के तीन प्रधान अंगों के निर्माण और कार्यों तथा नागरिकता और मौलिक अधिकारों की व्याख्या से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ है। इसमें शासन से सम्बन्धित छोटी से छोटी वस्तुओं और धाराओं का वर्णन है, उदाहरणार्थ “आय, सम्पत्ति, सम्भौता और मुक्तदमा, भारतीय सीमा में होने वाले व्यापार और व्यवसाय, चुनाव, पद, अल्पदल, सरकारी भाषा और असाधारण परिस्थिति वश उत्पन्न हुए विषयों के सम्बन्ध में कुछ धाराएँ।” और इसी प्रकार इस विधान का आकार इतना बढ़ गया है।

अपने विधान के इस व्यापकत्व का पक्ष निम्नलिखित आधारों पर प्रहण किया गया है :—

(१) देश की विशालता, उसकी जन संख्या की विपमता और उसके हितों की भिन्नता इस प्रयास पूर्ण विस्तार को युक्ति संगत सिद्ध करते हैं। भारतवर्ष की ३४ करांड जनता, विभिन्न धर्म, अनेक प्रकार की भाषाओं और अनेक अल्पदलों की उपस्थिति के कारण यह अनिवार्य था कि प्रत्येक वस्तु का व्यापक और विस्तृत वर्णन हो।

(२) हमारे विधान के विस्तार के कण उसके स्वरूप के मूल में ही विद्यमान हैं। इस सम्बन्ध में श्री जोशी का कथन उल्लेखनीय है :

“इसका (विस्तार का) द्वितीय कारण भारतीय संघ का स्वरूप है जो संघ के किसी स्वीकृत सिद्धान्त के अनुरूप नहीं है, और भारतवर्ष की असाधारण और असामान्य आवश्यकताओं और परिस्थितियों की पूर्णता तथा द्वितीय राज्य के उसके स्पष्ट एवं स्थिर उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जिसने सरकार को विभिन्न प्रणालियों (सचिव-तन्त्रात्मक और असचिवतन्त्रात्मक) के अंश प्रहण किए हैं।”^१ विधान के विभिन्न स्वरूपों की निम्नलिखित विवेचना के पश्चात् यह भली भाँति स्पष्ट हो जाएगा :—

1. “Another reason is the nature of the Indian Union, which conforms to no accepted theory of federalism and which adopts the ingredients of different systems of Government (Parliamentary and Presidential) to meet India's peculiar needs and conditions and whose avowed objective is to achieve the welfare state.”

—Sri G. N. Joshi.

(अ) हमारे विधान को दो स्वरूप प्रदान किए गए हैं। सामान्य काल में इसका स्वरूप संघीय रहेगा, और असाधारण परिस्थितियों में इसका स्वरूप एकात्मक हो सकता है। विधान के इस द्वितीय स्वरूप के कारण ही कुछ अन्य धाराओं को इसमें रखना पड़ा, जिससे इसके आकार में और भी वृद्धि हुई।

(ब) इसके अतिरिक्त इस विधान के निर्माताओं ने विभिन्न आकार के और राजनैतिक विकास की दृष्टि से भिन्न राज्यों को एक ही राजनैतिक बन्धन में बांधा है। ब्रिटिश भारतीय प्रान्त, देशी राज्य और चीफ कमिश्नर्स के प्रान्त राजनैतिक दृष्टिकोण से एक दूसरे से इतने भिन्न थे कि इन्हें एक ही संघ का सदस्य बनने से पूर्व यह आवश्यक था कि विधान में विभिन्न प्रकार की धाराओं का सन्निवेश किया जाता। इसलिए विधान का आकार और भी व्यापक हो गया क्योंकि “इस विधान में केवल संघ का विधान ही सम्मिलित नहीं है, वरन् विभिन्न स्तर के राज्यों का विधान भी सम्मिलित है।”

(३) राजनैतिक दासता के एक युग के पश्चात् प्रजातन्त्र का वृत्त भारतीय भूमि के लिए अपरिचित सा हो गया है। इसलिए विशेष रूप से अपनी निरक्षरता, दारिद्र्य, पिछड़ी हुई राजनैतिकता और राष्ट्रीयता की कमी के कारण भारतवर्ष स्वस्थ प्रजातन्त्रात्मक प्रथाओं के विकास के योग्य नहीं सनभा गया। कई वर्षों के निरन्तर प्रयत्न के पश्चात् जीते हुए प्रजातन्त्रात्मक आदर्श का अनुसरण करने के लिए यह आवश्यक था कि प्रत्येक विषय से सम्बन्धित प्रत्येक धारा को व्यापक स्थान प्रदान किया जाए, क्योंकि स्वराज्य के इस ब्रह्मानन्द की प्राप्ति में विधान निर्माता किसी प्रकार की बाधा की सम्भावना भी नहीं रखना चाहते थे। वह उस दुःखित गाथा की पुनरावृत्ति नहीं चाहते थे जब नौकरशाही द्वारा निर्मित नियमों के कारण मॉर्ले-मिन्टो और मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार एक्ट को तत्परहित एक स्वाँग और प्रहसन का रूप दे दिया गया था। इस दृष्टिकोण को डाक्टर अम्बेडकर ने निम्नलिखित शब्दों में बढ़ी योग्यता के साथ प्रतिपादित किया है :

“यह उसी स्थान पर सम्भव है जहाँ व्यक्तियों में वैधानिक नैतिकता भरी हुई हो, कि शासन सम्बन्धी विस्तार को विधान में स्थान प्रदान न करने और उन्हें निश्चित करने का अधिकार व्यवस्थापिका सभा को सौंपने का भय मोल लिया जाए। भारतवर्ष में प्रजातन्त्र भारतीय भूमि पर केवल एक लता के समान है, जो (भूमि) अभी प्रजातन्त्र के योग्य नहीं है। इस प्रकार की परिस्थितियों में बुद्धिमत्ता इसी में है कि शासन का स्वरूप निश्चित करने के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका सभा पर विश्वास ही न किया जाए।”^१

1. “It was only where people were saturated with constitutional morality that one could take the risk of omitting from the constitu-

(४) इसके अतिरिक्त यह भी प्रतिपादित किया गया है कि विस्तृत धाराओं से हमारा विधान समृद्ध हो हुआ है क्योंकि इनमें विश्व के महान प्रजातन्त्रात्मक देशों का अनुभव भी सन्निहित है जहाँ इन सिद्धान्तों को कसौटी पर कसा जा चुका है और जो राजनैतिक, उथल-पुथल में सफल सिद्ध हुए हैं ।

परन्तु भारतीय विधान की व्यापकता केवल एक सर्वगुण सम्पन्न आदर्श के रूप में ही है । यह व्यापकता एक भयानक संकट की ओर भी संकेत करती है । जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है कुछ स्थानों पर भारतीय विधान में छोटी से छोटी बातों का भी व्यापक वर्णन है । राजनैतिक ज्ञान के व्यावहारिक क्षेत्र में यह व्यवस्था उचित नहीं । इससे यह सम्भव है कि उन व्यक्तियों के कार्य में बाधा पड़े अथवा कठिनाई उपस्थित हो जिन्हें समय और स्थानगत विशेषताओं तथा आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए विधान को कार्य रूप में परिणत करना होगा । शासन व्यवस्था केवल एक सिद्धान्त ही नहीं है । उसमें व्यावहारिकता का पुट देकर उसे पूर्ण करना पड़ता है । और इसलिए यही भय है कि कहीं हमारा विधान, जिसमें छोटी से छोटी बात का व्यापक वर्णन है, समय और स्थान की आवश्यकताओं के प्रति अपने उत्तरदायित्व का भली भाँति पालन न कर सके । इसलिए यह सम्भव है कि हमारा विधान कहीं अधिक संकुचित और अचल न हो जाए और इसके परिणाम स्वरूप जीवन की दौड़ से कहीं भटक न जाए । कालगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निःसन्देह हमारे विधान में संशोधन की धाराएँ उपस्थित हैं । परन्तु मानव प्रकृति ही ऐसी है कि वस्तुओं को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेती है और उस समय तक उनमें परिवर्तन अथवा सुधार करने की चिन्ता नहीं करती जब तक कि स्पष्ट रूप से उसकी आवश्यकता प्रतीत न हो । इस प्रकार यह स्वीकार करना पड़ता है कि यद्यपि हमारे विधान में युग-युगान्तर के राजनैतिक ज्ञान एवं अनुभव को स्थान प्रदान किया गया है, परन्तु हमारा विधान जीवन के इस सत्य से सर्वथा अनभिज्ञ है कि “वास्तविक विधान वही है जो सामान्य नियमों का जीवित समूह हो, जिनका संचालन जीवित अथवा उपस्थित व्यक्ति कर रहे हों ।”

(२) राजनैतिक व्यवस्था के रूप में विधान

‘राजनैतिक व्यवस्था के रूप में विधान’ की मुख्य विशेषताओं का विवेचन निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है :—

tion details of administration and leaving to the legislature to prescribe them. Democracy in India is only a top dressing on the Indian soil which is essentially undemocratic. In these circumstances it is wiser not to trust the legislatures to prescribe forms of administration.”

—Dr. Ambedkar.

(१) जनता का सर्वोच्च प्रजातन्त्रात्मक गणतन्त्र

‘भूमिका’ (Preamble) में इस अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। जनता की राज्यसत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भूमिका में लिखा गया है :—

“भारतवर्ष को ‘सर्वोच्च सत्ताधारी प्रजातन्त्रात्मक गणतन्त्र’ का स्वरूप प्रदान करने की प्रतिज्ञा के साथ, हम भारतवासी..... इस विधान का निर्माण कर इसे स्वयं को प्रदान करते हैं।”

इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय गणतन्त्र विधान स्वयं द्वारा निर्मित है, किसी अन्य शक्ति द्वारा लादा हुआ नहीं। अब भारतवासी आत्म दृढ़ता के अधिकार का उपभोग कर रहे हैं और उन्होंने अपने प्रतिनिधियों द्वारा अपनी मातृभूमि को इच्छित एवं मनोवांछित विधान भेंट किया है। इसके अतिरिक्त आन्तरिक क्षेत्र में भारतवर्ष सर्वोच्च सत्ताधारी है, बाह्य क्षेत्र में भारतवर्ष स्वतन्त्र है, और राज्य सत्ता जनता के हाथों में है। भारतवर्ष का नवीन विधान जनता की केवल सर्वोच्च सत्ता के प्रति ही संकेत नहीं करता अपितु जनता के शासन के प्रति भी संकेत करता है। इस विधान द्वारा एक प्रजातन्त्रात्मक सरकार की स्थापना हुई है, ऐसी सरकार जिसमें एक सामान्य नागरिक भी उच्चतम पद प्राप्त कर सकता है। वह अब अपने राजनैतिक अधिकार का उपभोग कर रहा है—निर्वाचित करने और निर्वाचित होने के अधिकार का। विधान द्वारा यह महत्वपूर्ण अधिकार २१ वर्ष की आयु वाले प्रत्येक व्यक्ति को प्रदान किया गया है। इस सम्बन्ध में जन्म, धन, धर्म, जाति आदि का कोई भेद भाव नहीं रखा गया है। वयस्क मताधिकार का प्रवेश, पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन और अछूत प्रथा की समाप्ति, मौलिक अधिकारों की स्वीकृति और स्वतन्त्र न्यायालय की स्थापना— यह हमारे विधान की कुछ विशेष प्रजातन्त्रात्मक विशेषताएँ हैं। हमारा विधान केवल प्रजातन्त्रात्मक ही नहीं, केवल जनता की सर्वोच्च राज्यसत्ता का निर्देशक ही नहीं, अपितु हमारा विधान गणतन्त्रात्मक भी है क्योंकि भारतवर्ष का शासनाध्यक्ष वंशीय सम्राट न होकर एक निर्वाचित राष्ट्रपति होगा। संक्षेप में हमारा विधान लिंकन के निम्नलिखित शब्दों का बड़े दृढ़ रूप में समर्थन करता है :—

“जनता की, जनता के लिए और जनता द्वारा संचालित सरकार का पृथ्वी पर से कभी अन्त न होगा।”^१

(२) न्यायालय के निरीक्षण के साथ सचिवतन्त्रात्मक आधार

भारतीय राज्य का शासनाध्यक्ष राष्ट्रपति कहलाता है। इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि भारतवर्ष में असचिवतन्त्रात्मक सरकार है। भारतवर्ष में सचिवतन्त्रात्मक

1. “Government of the people, by the people, for the people shall not perish from the earth.”
—Lincoln.

प्रजातन्त्र है जिसमें राज्य का अथर्व कवल नाममात्र का शासक है। उसका पद अधिकार का न होकर केवल ऐश्वर्य और वैभव का है। उसके समस्त अधिकारों का भोग मन्त्रि-मण्डल करता है जिसका निर्माण व्यवस्थापिका सभा में से होता है और जो उसी के प्रति उत्तरदायी होता है। कार्यकारिणी पर व्यवस्थापिका सभा के नियन्त्रण के सम्बन्ध में—जो सचिवतन्त्रात्मक सरकार की एक प्रधान विशेषता है—हमारे विधान में लिखा है :—

“मन्त्रि मण्डल लोकसभा के प्रति संयुक्त रूप से उत्तरदायी रहेगा।”

इस स्थान पर हमारा विधान इंग्लैंड और फ्रांस के विधानों के अधिक निकट है न कि अमरीका के विधान के। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि कार्य-कारिणी पर व्यवस्थापिका सभा का नियन्त्रण एक बात है और पार्लियामेंट की सर्वोच्च सत्ता दूसरी बात। हमारा विधान प्रथम का उपभोग करता है न कि द्वितीय का। इस एक बात में हमारा विधान इंग्लैंड के विधान से मतभेद रखता है कि पार्लियामेंट का अधिकार क्षेत्र निरंकुश और पूर्ण है और किसी न्यायालय को यह अधिकार नहीं कि उसके एकट की परीक्षा करे अथवा उसे अवैध घोषित कर सके। भारतीय विधान संघात्मक है और इसलिए स्वभावतः ही इसकी प्रधान विशेषता है विधान की सर्वोच्चता। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा अपने समस्त अधिकार विधान से ही ग्रहण करती है और वैधानिक धाराओं द्वारा उसके क्षेत्र को निश्चित रूप से सीमित कर दिया गया है। सर्वोच्च न्यायालय विधान का संरक्षक है, और यदि केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा अपने क्षेत्र से बाहर एक पग भी रखती है तो सर्वोच्च न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है। इस प्रकार यदि इंग्लैंड के विधान की प्रमुख विशेषता पार्लियामेंट की सर्वोच्च सत्ता है तो भारतीय विधान की प्रधान विशेषता न्यायालय द्वारा परीक्षण है।

(२) लौकिक राज्य शासन विधि

हमारे विधान का लक्ष्य है भारतवर्ष में लौकिक राज्य शासन विधि की स्थापना। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु राजनीति और धर्म के क्षेत्रों को पूर्ण रूप से पृथक् कर दिया गया है। प्रत्येक भारतवासी को समान नागरिकता प्रदान की गई है भले ही वे किसी धर्म, जाति अथवा वर्ण का हो। प्रत्येक नागरिक को कोई सा धर्म अंगीकार करने का, अपने धर्म का प्रचार और प्रसार करने का पूर्ण अधिकार है, परन्तु वह प्रचार अथवा प्रसार जनशान्ति, जन सुरक्षा और आचरण एवं नीति के विरुद्ध न होना चाहिए।^१ राज्य की ओर से किसी धर्म का प्रचार नहीं होगा। पद ग्रहण करने अथवा सुरक्षा एवं आश्रय के सामान्य स्थानों तक पहुँचने में धर्म आदि के आधार पर किसी व्यक्ति के

^१. विधान की धारा २५

सम्बन्ध में भेद भाव नहीं किया जायगा।^१ विधान में यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि जिन विद्यालयों का संचालन पूर्ण रूप से राज्य के धन से किया जाता है उनमें किस प्रकार के धर्म से सम्बन्धित शिक्षा प्रदान नहीं की जायगी।^१ जिन विद्यालयों को राज् आर्थिक सहायता प्रदान करता है अथवा जो विद्यालय राज्य द्वारा स्वीकृत संस्थाएँ हैं उनमें भी किसी व्यक्ति को धर्म सम्बन्धी शिक्षा में सम्मिलित होने के लिए विवश नई किया जायगा।^२ श्री. आर. वी. सेम्पसन ने राज्य की लौकिकता का वर्णन निम्न लिखित रूप से बढ़ी योग्यता से किया है :—

“उसके (विधान के) प्रगतिशील रूप की सबसे अधिक प्रशंसनीय धारा वह है जिसमें धर्म की उलझी हुई गुथी को सुलझाया गया है। यद्यपि समस्त नागरिकों को पूर्ण धार्मिक अधिकार प्रदान किए गए हैं, राज्य की ओर से जिस शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है वह पूर्ण रूप से लौकिक होगी; राज्य की शैक्षिक संस्थाओं में धर्म की किसी प्रकार की शिक्षा प्रदान नहीं की जा सकेगी। यह अत्यन्त अद्भुत प्रतीत होता है कि जिस देश ने धार्मिक विरोध अथवा कलह के कारण इतने कष्ट झेले हों, शिक्षा को पूर्ण रूप से लौकिक स्वरूप प्रदान करने में वही देश अग्रगण्य होगा।”^३

(४) राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्त

केवल एक लौकिक राज्य शासन विधि हीन ही नहीं हमारे विधान के अन्तर्गत भारतीय राज्य शासन विधि एक द्वितयी राज्य के रूप में भी है। इस स्वरूप पर अधिक बल देने के लिए एक ‘आदेश पत्र’ की व्यवस्था की गई है। विधान का यह अंग ‘राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्त’ के नाम से पुकारा गया है। इस शीर्षक के अन्तर्गत भारतीय राज्य द्वारा जनता को निम्नलिखित का आश्वासन प्रदान किया गया है :—

(अ) जीवन यापन के पर्याप्त साधन; (ब) धन का निष्पक्ष वितरण; (स) समान कार्य के लिए समान वेतन; (द) वयस्क श्रमिकों की रक्षा; (क) नौकरी; (ख) चौदह वर्ष की आयु तक के बालकों के लिए आवश्यक और निःशुल्क शिक्षा; (ग)

^१ विधान की धारा १५

^२ विधान की धारा २८

^३ “Most praiseworthy in its progressive attitude is the section dealing with the thorny problem of religion. While full religious rights are guaranteed to all citizens, the State education is to be completely secular, no religious instruction being permitted in State educational institutions. It is curious that the land which has suffered so much from religious strife should be foremost in the complete secularization of education.”

—Mr. R. V. Sampson.

बेकारी, वृद्धावस्था, बीमारी, अपाहिज आदि की दशा में जन सहायता; (घ) कार्य की ऐसी परिस्थितियाँ जिनसे जीवन का एक उचित स्तर स्थिर किया जा सके; (ङ) आधार के स्तर में वृद्धि; इत्यादि ।

राज्य के कार्य क्षेत्र से सम्बन्धित स्थायी राजनैतिक घोषणा अथवा कार्यक्रम के रूप में निर्देशक सिद्धान्तों का सम्मिलित करना हमारे विधान की एक प्रधान विशेषता है । इस का स्थान समान ही रहेगा, भले ही राज्याधिकार किसी दल के हाथों में हो । इसकी समानता केवल आयरलैंड के गणतन्त्र के विधान में ही लक्षित होती है ।

(५) अधिकार पत्र के रूप में विधान

इन सबके अतिरिक्त, भारतीय गणतन्त्र के विधान के अन्तर्गत ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि देश के प्रतिनिधियों ने लॉकन के निम्नलिखित शब्दों में यह प्रतिज्ञा की हो :

“हम यह निश्चय करते हैं कि इन शहीदों ने अपने प्राण व्यर्थ ही नहीं गँवाए होंगे; उस परात्पर के वरदहस्त के नीचे यह राष्ट्र स्वतंत्रता का नया जन्म गृहण करेगा ।”^१

हमारे विधान की भूमिका में प्रत्येक नागरिक को न्याय, स्वतंत्रता, समानता और आतुत्व के अधिकारों के प्रदान किए जाने का उल्लेख है । मौलिक अधिकारों के अभ्यास द्वारा भूमिका को और भी वास्तविक रूप प्रदान किया गया है । इसके द्वारा प्रत्येक क्षेत्र में—राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक-वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा होती है । इसके द्वारा प्रत्येक नागरिक को असमानता के विरुद्ध समानता का अधिकार प्राप्त है । इस प्रकार हमारे विधान में ‘अधिकार पत्र’ (Magna Carta) के निम्न-लिखित सिद्धान्त के मुख्य तत्व को स्थान प्रदान किया गया है :—

“न्याय अथवा अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को दिए जाएँगे, इनमें किसी प्रकार का विलम्ब नहीं होगा और न इनका क्रय ही किया जाएगा ।”^२

(६) ग्राम्य गणतन्त्रों का गणतन्त्र

यहाँ इस बात का उल्लेख करना असंगत न होगा कि भारतवर्ष को ग्राम्य गणतन्त्रों—ग्राम पंचायतों—का गणतन्त्र भी कहा जा सकता है । महात्मा गाँधी का यह विश्वास था कि :

“स्वतन्त्रता का प्रारम्भ मूल से आरम्भ होना चाहिए । इस प्रकार प्रत्येक ग्राम एक गणतन्त्र अथवा पंचायत होगा जिसे पूर्ण अधिकार प्राप्त होंगे ।”

1 “We here highly resolve that these dead shall not have died in vain; that this nation under God shall have a new birth of freedom.”
—Lincoln.

2 “No man will we deny, to no man will we delay, to no man will we sell justice or right.”
—From Magna Carta.

महात्मा जी के स्वराज्य के दृष्टिकोण को सफलभूत बनाने के हेतु विधान में यह प्रतिपादित किया गया है कि :

“राज्य ग्राम पंचायतों के निर्माण की ओर कदम उठाएगा, और उन्हें इतने अधिकार प्रदान किए जायेंगे जिससे कि वे स्वराज्य की एक इकाई के समान कार्य कर सकें।”

ग्राम पंचायतों के निर्माण का उद्देश्य ही प्रजातन्त्र के एक आधार की प्राप्ति करना है। इन्हें प्रजातन्त्र की इकाई न समझ लेना चाहिए। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के विधाता समस्त व्यक्ति ही हैं।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण

इसके पूर्व कि हम अपने विधान की प्रधान विशेषताओं का अध्ययन समाप्त करें, यहाँ यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि हमारे विधान का स्वरूप केवल प्रजातन्त्रात्मक और राष्ट्रीय ही नहीं है, अपितु उसका दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय और शान्तिपूर्ण भी है। जिस युग में एक विधान का निर्माण होता है, उस विधान पर उस युग की छाप एक न एक रूप में अवश्य रहती है। फ्राँस के चतुर्थ गणतन्त्र के विधान के समान हमारे विधान ने भी अन्तर्राष्ट्रीयता के उस युग में जन्म लिया है जबकि विज्ञान ने विश्व को हमारा पड़ोसी बना दिया है, जब विश्व के नागरिक युद्ध से ऊब कर अखण्ड और अनन्त शान्ति के स्वर्णिम स्वप्न को साकार स्वरूप प्रदान करने के हेतु विश्व सरकार के निर्माण की योजना प्रस्तुत कर रहे हैं। और इसलिए यदि फ्राँस के चतुर्थ गणतन्त्र के विधान में यह उल्लेख है कि :

“अपनी प्रथाओं के प्रति विश्वासी रह कर फ्राँसीसी गणतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का पालन करेगा और राज्य विस्तार के हेतु वह युद्ध नहीं करेगा और किसी राष्ट्र की स्वतन्त्रता के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण नहीं करेगा”।

तो भारतीय विधान ने भी यह घोषणा की है कि वह :—

“विभिन्न राष्ट्रों में न्यायपूर्ण और आदरणीय सम्बन्धों का विकास करेगा; संगठित राष्ट्रों के प्रति हुई सन्धियों के प्रति पारस्परिक आदर की भावना तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति अनुमोदन की भावना का विकास करेगा, और समझौते द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निर्णय करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देगा।”

इस प्रकार हमारे विधान का लक्ष्य यही है कि भारतीय राज्य शासन विधि को, जो अभी शैशवावस्था में ही है, शान्ति की ओर उन्मुख करे।

(३) संघीय योजना के रूप में विधान

हमारे विधान का निर्माण संघीय आधारों पर किया गया है। संघ की जो मुख्य विशेषताएँ होती हैं, वे सब इस में हैं। विधान की सर्वोच्च सत्ता यहाँ भी विध-

मान है। केन्द्र और राज्यों में शक्ति वितरण भली भँति एवं स्पष्ट रूप से किया गया है। संघीय न्यायालय की स्थापना भी की गई है जिसे विधान के संरक्षक और हमारे मौलिक अधिकारों के रक्षक के रूप में अनेक महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान किए गए हैं।

एक दृष्टिकोण से हमारे विधान की एक विलक्षण विशेषता है परिस्थिति के अनुकूल इसका एक साथ ही संघात्मक और एकात्मक होना। सामान्य रूप से तो यह संघात्मक ही रहेगा, परन्तु असाधारण परिस्थितियों में इसका स्वरूप एकात्मक होगा। इस दोहरे स्वरूप के कारण हम इस संघीय व्यवस्था को लचीले संघ¹ के नाम से पुकार सकते हैं क्योंकि यह बड़ी सरलता के साथ एकात्मक स्वरूप ग्रहण कर सकता है। इस विशेषता के अतिरिक्त हमारे विधान निर्माताओं ने देश में प्रचलित निष्केन्द्रीकरण की घातक प्रवृत्तियों को दृष्टिगत रखते हुए प्रान्तीय स्वराज्य पर अधिक बल न देकर राष्ट्रीय एकता और स्थायित्व पर अधिक बल दिया है। इसी के परिणामस्वरूप केन्द्र की शक्ति अधिक हो गई है, यहाँ तक कि हमारे संघ का झुकाव निश्चित रूप से एकात्मक स्वरूप की ओर है। यह दोनों विशेषताएँ अपने साथ कुछ अन्य विशेषताओं को भी ले आई हैं जिनका वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

कुछ अपूर्व विशेषताएँ

इन विशेषताओं में से मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) संघ निर्माण की विपरीत प्रणाली

संघ का निर्माण उन इकाइयों को मिला कर किया जाता है जो संघ में सम्मिलित होने से पूर्व स्वतन्त्र होती हैं और जो अपने पारस्परिक सम्बन्धों के निश्चय करने में भी स्वतन्त्र होती हैं। इन स्वतन्त्र इकाइयों को कुछ समान उद्देश्यों तथा हितों की पूर्ति के लिए मिलाया जाता है। इस प्रकार राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्णता के लिए कुछ राज्यों को मिला कर एक संघ का निर्माण किया जाता है। सामान्य रूप से संघ का निर्माण करने में कुछ पृथक् राज्यों को मिलाकर एक समूह बनाया जाता है, परन्तु भारतवर्ष में इसके निर्माण में इकाइयों को मिलाने की अपेक्षा उनको खण्डित किया गया है। सन् १९३७ में ब्रिटिश भारत को कुछ स्वतन्त्र प्रान्तों के रूप में खण्डित कर दिया गया था और फिर कुछ समय पश्चात् भाषा के आधार पर उनका निर्माण किया गया था। संघीय क्षेत्र के अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय जैसे चुङ्गी, रक्षा, विदेशी विभाग, आदि सन् १९३७ के पूर्व केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के हाथों में थे। भारत सरकार देश को शान्ति, सुरक्षा तथा उत्तम शासन के लिए उत्तरदायी थी।

भारतवर्ष में एक केन्द्रीय सरकार तथा कुछ अन्य आधीन सरकारें थीं जो सम्राट (Crown) के आधीन थीं। ब्रिटिश प्रान्तों के अतिरिक्त देशी राज्य भी सम्राट

¹ Flexible Federation

(Crown) की सत्ता के आधीन थे। इस लिए यह स्पष्ट है कि जिस समय भारत-वर्ष में संघ का निर्माण किया गया उस समय संघ की इकाइयाँ विदेशी कार्यों के दृष्टिकोण से एक राज्य ही थीं। इस प्रकार विश्व के अन्य देशों की संघ निर्माणा की प्रणाली से भारत की संघ निर्माणा की प्रणाली विपरीत थी। हमारे नवीन विधान में भी इसी आधार को अपनाया गया है।

एकात्मकता के लक्षण

विधान सभा में भाषण देते हुए डाक्टर अम्बेडकर ने यह कहा था कि संघ विशेष रूप से एक संघीय राज्य शासन विधि ही नहीं हैं, अपितु वह पार्लिक संघीय राज्य शासन विधि है जिसमें एकात्मकता के कुछ महत्वपूर्ण तत्व भी सम्मिलित हैं। यद्यपि भारतीय विधान का स्वरूप संघीय है परन्तु विश्व के अन्य संघ राज्यों के विधान की असमानता में, हमारा विधान संघात्मक और एकात्मक दोनों ही है जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है। समय और परिस्थितियों के अनुसार वह अपना स्वरूप परिवर्तित कर सकता है। सामान्य परिस्थितियों में हमारे विधान का स्वरूप संघात्मक ही रहेगा, परन्तु असाधारण परिस्थितियों में इस का स्वरूप एकात्मक होगा।

हमारे विधान की एकात्मकता के इन लक्षणों का निर्देश करने वाली मुख्य धाराएँ निम्नलिखित हैं :—

(अ) हमारे विधान में यह निश्चित कर दिया गया है कि अवशेष अधिकार केन्द्र के हाथों में रहेंगे। जो विषय राज्यों की तालिका अथवा एकीभूत तालिका में सम्मिलित नहीं है उनके सम्बन्ध में यह निश्चित कर दिया गया है कि वे केन्द्र के हाथों में रहेंगे।

(ब) विधान में पूर्णतः स्पष्ट कर दिया गया है कि राष्ट्र घातक असाधारण परिस्थितियों के अवसर पर केन्द्र कानूनी रूप से संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों के शासन में हस्तक्षेप कर सकेगा। उदाहरणार्थ, यदि राज्य परिषद् (Council of States) अपने उपस्थित सदस्यों के बहुमत द्वारा यह प्रस्ताव पास करदे कि राष्ट्रीय हित के लिए प्रान्तीय तालिका के कुछ विशेष विषयों के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि संसद कानूनों का निर्माण करे तो उन विषयों के सम्बन्ध में संघीय संसद् को कानून बनाने का अधिकार होगा।

(स) इसके अतिरिक्त विधान द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि यदि उसे यह अनुभव हो कि युद्ध अथवा किसी बाह्य अथवा आन्तरिक अशान्ति के कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे भारतवर्ष की सुरक्षा के नष्ट होने का भय है, तो वह इस प्रकार की घोषणा कर सकता है। जितने समय तक यह घोषणा प्रचलित रहेगी उतने समय तक केन्द्रीय संसद् को प्रान्तीय तालिका में उद्धृत विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार होगा। राष्ट्रपति भी किसी प्रान्त को वहाँ के शासन संचालन के सम्बन्ध में आदेश प्रदान कर सकते हैं।

(द) 'लीडर' के सम्पादक ने इस व्यवस्था का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है :

“विधान निर्माताओं का उद्देश्य यही था कि प्रान्तीय कार्यकारिणी सभाओं को, जो अन्तिमरूप से प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी होंगी, केन्द्रीय कार्यकारिणी के नियन्त्रण में रखा जाए जो संघीय निर्वाचकों के नियन्त्रण में होगी।”

विधान में कुछ ऐसी धाराएं हैं जिनसे संघीय इकाइयों के शासन और केन्द्रीय शासन में घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। राष्ट्रपति स्वयं प्रान्तीय अध्यक्षों को आदेश भी दे सकता है और अपने नियन्त्रण में भी रख सकता है। उदाहरण स्वरूप विधान की धारा १६० द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार प्रदान किया है : “राष्ट्रपति को किसी प्रान्त के गवर्नर के उन कार्यों के सम्पादन के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार होगा जिनके विषय में विधान भी मौन है.....।”

(३) समान नागरिकता

सामान्यतः एक संघीय राज्य में दोहरी नागरिकता होती है—संघीय नागरिकता और प्रान्तीय नागरिकता। संयुक्त राज्य अमरीका में दोहरी राज्य शासन विधि दोहरी नागरिकता द्वारा सम्पादित होती है। परन्तु भारतीय संघ में दोहरी राज्य शासन विधि होते हुए भी नागरिकता एक ही है। भारतवर्ष में विभिन्न प्रान्तों की नागरिकता नाम की कोई वस्तु नहीं; देश के समस्त व्यक्ति संघीय नागरिक हैं। प्रत्येक भारतीय को नागरिकता के समान अधिकार प्राप्त हैं चाहे वह किसी प्रान्त में निवास करता हो। इस धारा का उद्देश्य यही है कि उन भारतीयों में, जिनकी मातृभूमि एक है, जो समान सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों का भोग कर रहे हैं, और देश और राष्ट्र के प्रति जिनके समान कर्तव्य हैं, उद्देश्य, हित और लक्ष्य की एकता की भावना अथवा चेतना को जाग्रत करे और उसका विकास करे। इस धारा का लक्ष्य यही है कि प्रान्तीय हितों के प्रति श्रद्धा से भी उच्च स्थान राष्ट्रीय हित को प्रदान किया जाए। और इसका अन्तिम उद्देश्य यही है कि इसके द्वारा सम्पूर्ण संघ की नींव और भी दृढ़ की जा सके।

(४) समग्र विधान

विश्व के अन्य संघ राज्यों में विशेष रूप से अमरीका में संघ और इकाइयों के विधान भिन्न-भिन्न हैं। संघ में सम्मिलित होने वाली इकाइयों के व्यवस्थापक, कार्यकारिणी एवं न्याय सम्बन्धी समस्त पदाधिकारी उन इकाइयों के विधान के आधीन होते हैं। इस प्रणाली के विपरीत कनाडा के विधान में केवल संघ का विधान ही नहीं, वरन् उसमें संघ में सम्मिलित होने वाली इकाइयों का विधान भी सम्मिलित है। भारतवर्ष का विधान अमरीका के विधान के समान न होकर कनाडा के विधान के समान है। यहाँ भी संघ का एक ही विधान है जो समग्र एवं पूर्ण है अथवा जिसमें

इकाइयों का विधान भी सम्मिलित है, तथा जिसमें से कोई राज्य स्वयं को पृथक नहीं कर सकता ।

(५) समानता के हितार्थ प्रस्तावित धाराएँ

केवल इतना ही नहीं भारतीय विधान में कुछ धाराएँ इस प्रकार के साधन रूप में प्रस्तुत की गई हैं जिनसे भारतीय संघ को वह समानता प्राप्त हो सके जो एक देश की एकता के लिए आवश्यक है । यह साधन है :—(अ) समस्त भारत के लिए एक न्यायालय; (ब) फौजदारी और दीवानी सम्बन्धी कानूनों में समानता; और (स) संघ और विभिन्न प्रान्तों के मुख्य पदों के लिए एक ही अखिल भारतीय सिविल सर्विस । विधान में यह प्रस्तावित किया गया है कि शासन का स्तर उत्तम बनाए रखने के लिए कुछ महत्वपूर्ण पदों पर अखिल भारतीय सिविल सर्विस के कर्मचारी नियुक्त किए जाएँगे । भारतीय संघ में दोहरी न्याय प्रणाली नहीं है । सर्वोच्च न्यायालय और प्रान्तों की हाई कोर्ट एक ही शृङ्खला की कड़ियाँ हैं । अमरीका में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं । वहाँ संघ तथा संघ में सम्मिलित होने वाली इकाइयों के कानूनों की व्याख्या करने के लिए पृथक न्यायालय स्थापित किए गए हैं ।

(६) राष्ट्रपति का विशेष स्थान

अमरीका के संघ राज्य की कार्यकारिणी का अध्यक्ष जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता है; कनाडा और आस्ट्रेलिया के शासनाध्यक्ष की नियुक्ति सम्राट (Crown) वहाँ के मन्त्रिमण्डलों की सममति से करते हैं; परन्तु भारतीय संघ के अध्यक्ष का निर्वाचन संघीय संसद और प्रान्तों की व्यवस्थापिका सभाएं करती हैं । विश्व के अन्य संघ राज्यों के शासनाध्यक्ष को स्पष्ट रूप से व्यवस्थापक अधिकार प्रदान नहीं किए गए हैं, परन्तु भारतीय संघ के अध्यक्ष को स्पष्ट व्यवस्थापक तथा असाधारण परिस्थिति सम्बन्धी अधिकार प्रदान किए गए हैं ।

(७) विलक्षण शक्ति वितरण

विश्व के अन्य संघ राज्यों में शक्ति वितरण के सम्बन्ध में जो प्रणाली स्वीकार की गई है वह यह है कि संघीय अथवा प्रान्तीय सरकार दोनों में से एक को कुछ विशेष अधिकार सौंप दिए जाते हैं, और अवशेष अधिकार दूसरे को सौंप दिए जाते हैं । अमरीका और आस्ट्रेलिया में केन्द्रीय सरकार को कुछ विशेष निश्चित अधिकार सौंप दिए गए हैं और अवशेष अधिकार संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों को सौंप दिए गए हैं । कनाडा में केन्द्रीय सरकार और संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों की सरकारों को—दोनों को—कुछ विशेष निश्चित अधिकार सौंपे गए हैं और अवशेष अधिकार संघीय अथवा केन्द्रीय सरकार को सौंप दिए गए हैं । भारतीय संघ में संघीय और प्रान्तीय सरकारों के अधिकारों का उल्लेख

स्पष्ट रूप से तीन विस्तृत व्यवस्थापक तालिकाओं में किया गया है और अवशेष अधिकारों को केन्द्र को सौंपा गया है। यह व्यवस्था संघीय विधान के इतिहास में एक नवीन वस्तु है परन्तु भारत के सन् १९३५ के विधान की इस पर स्पष्ट छाप है।

(न) अचल विधान और उसकी दुर्बलता

विश्व के अन्य समस्त संघीय विधानों से भारतीय संघ का विधान सबसे कम अचल है। इसे युक्ति संगत रूप तथा यथोचित रीति द्वारा लचीला रखा गया है। इसमें स्वयं में विकास एवं प्रगति के बीज सन्निहित हैं।

भारतीय संघ की व्यवस्था उसी सीमा तक अचल है कि इसके विधान में संशोधन करने के लिए एक विशेष प्रणाली का आश्रय लेना पड़ता है। विधान में किए जाने वाले संशोधन का प्रस्ताव राष्ट्रपति को स्वीकृति प्राप्त करने से पूर्व, दोनों भवनों के स्पष्ट बहुमत तथा उपस्थित सदस्यों के ३ भाग द्वारा पास हो जाना चाहिए। यदि संशोधन के उस प्रस्ताव द्वारा व्यवस्थापक अधिकारों की किसी तालिका में परिवर्तन होता हो, अथवा संसद में प्रान्तों के प्रतिनिधियों की संख्या पर उसका प्रभाव पड़ता हो, अथवा सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों पर उसका प्रभाव पड़ता हो, तो इस प्रकार का प्रस्ताव कानून बनने से पूर्व प्रान्तों के बहुमत द्वारा स्वीकृत होना चाहिए।

फिर भी हमारा विधान निम्नलिखित के कारण लचीला कहा जा सकता है :—

(अ) अमरीका के विधान में प्रस्तावित संशोधन की प्रणाली से हमारे विधान की प्रणाली कहीं अधिक सरल है; और

(ब) बिना कोई संशोधन हुए यह विधान स्वयं को विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल बना सकता है। उदाहरणार्थ, असाधारण परिस्थितियों में राष्ट्रपति की लेखनी के एक संकेत मात्र से यह विधान एकात्मक स्वरूप ग्रहण कर सकता है।

(६) असंघात्मक प्रतिनिधित्व

विश्व के अन्य संघ राज्यों के द्वितीय भवन में प्रत्येक राज्य को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है चाहे उसका आधार एवं उसकी जन संख्या कुछ भी हो। प्रथम भवन में संघीय इकाइयों की एकता प्रतिपादित की जाती है। प्रथम भवन के सदस्यों का निर्वाचन संघ राज्य में सम्मिलित होने वाले राज्य मिलकर करते हैं। इस प्रकार एक भवन द्वारा संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों की समानता और स्वतन्त्रता को प्रकट किया जाता है, और दूसरे भवन द्वारा राष्ट्रीय एकता की स्थापना की जाती है। भारतीय संघ में द्वितीय भवन में समान प्रतिनिधित्व को स्थान प्रदान नहीं किया गया है क्योंकि इस भवन में प्रतिनिधित्व का आधार समान प्रतिनिधित्व न होकर उनकी जनसंख्या है।

इस प्रकार हमारा विधान विश्व के अन्य संघ राज्यों के विधानों से भिन्न है। संघीय प्रणाली की उपर्युक्त नवीन विशेषताओं के अध्ययन के पश्चात् यह कहना असंगत न होगा कि हमारा विधान स्वयं ही एक प्रकार है।

सामान्य आलोचनाएँ और उनका निरीक्षण

कोई भी विधान, चाहे वह कितना ही पूर्ण क्यों न हो और उसकी रचना और शब्दावली कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, आलोचना से नहीं बच सकता, और यही बात भारतीय विधान के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यह अन्यत्र भी लिखा जा चुका है कि भारतीय विधान की कड़ी आलोचना की गई है। इन आलोचनाओं का विवेचन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है:—

(१) धर्मशों के लिए वास्तविक स्वर्ग के रूप में

आलोचकों का मत है कि यदि अमरीका का विधान “सामान्य व्यक्तियों का विधान है तो भारतीय विधान धर्मशों का विधान है।” यह विधान धर्मशों द्वारा निर्मित धर्मशों के लिए ही है। इस कथन पर किसी को कोई शंका अथवा आक्षेप नहीं होना चाहिए क्योंकि यह कथन केवल एक सत्य का प्रतिपादन मात्र करता है। प्रत्येक विधान जिसे वास्तविक अर्थ में विधान कहा जा सकता है—धर्मशों द्वारा निर्मित होता है, और बिना उनकी विद्वत्ता और अनुभव की सहायता के कोई इस क्षेत्र में पग रखने का साहस भी नहीं कर सकता। यह भी सत्य है कि वैधानिक कानून से सम्बन्धित किसी प्रश्न का निर्णय अथवा हल उस क्षेत्र के धर्मशों की सहायता बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। परन्तु उपर्युक्त कथन के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि यह कथन एक घृणित अर्थ का प्रतिपादन करता है, अर्थात् विधान का निर्माण जानबूझ कर इस प्रकार का किया गया है कि उसकी व्याख्या में कठिनाई उपस्थित हो, और विधान की दुर्बोध, असाध्य और जटिल धाराओं के परिणाम स्वरूप धर्मशों को अधिक मुकदमे प्राप्त हो सकें। परन्तु यह आलोचना कुछ अधिक विवेकपूर्ण नहीं। जिस विधान सभा ने हमारे विधान का निर्माण किया था, उसमें धर्मश भी थे और अन्य व्यक्ति भी थे। विधान की धाराओं के निर्माण के सम्बन्ध में जो वादविवाद हुआ उसमें धर्मशों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों ने भी उत्तरे ही उत्साह से भाग लिया था जितने उत्साह से धर्मशों ने। विधान में जो आदर्श और भावनाएँ उल्लिखित हैं वे केवल धर्मशों के कोष से ही नहीं लिए गए हैं, वरन् सामान्य जनता की समझ और दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विधान सभा का प्रधान पथ प्रदर्शक तथा उसके मुख्य सहकारी धर्मश ही थे, परन्तु वे सब ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें धन की लोलुपता और आकर्षण नहीं था। इसके अतिरिक्त यह कहना कि विधान की धाराओं को जानबूझ कर जटिल और दुरुह रखा गया है केवल इसीलिए

कि धर्मज्ञों के व्यवसाय में उन्नति हो—विधान सभा के धर्मज्ञ सदस्यों के उस त्याग और देश भक्ति के प्रति अन्याय करना है जिसका प्रदर्शन उन्होंने अपने आकर्षक और धन बरसाने वाले व्यवसाय को स्वेच्छा से त्यागने में किया था—केवल इसीलिए कि राष्ट्र के विधान निर्माण के कार्य में उनके ज्ञान और अनुभव द्वारा भी कुछ सहायता पहुँचाई जा सके।

यह कहना तो और भी असंगत है कि हमारे विधान से धर्मज्ञों को अधिक लाभ होगा, क्योंकि जटिलता, दुरुहता और दुर्बोधता से बचने के हेतु हमारा विधान अत्यन्त विस्तृत और व्यापक बनाया गया है, तथा प्रत्येक वस्तु का उसमें विस्तृत वर्णन है। धर्मज्ञ तो विधाता के वह जीव हैं जो अन्धकार में प्रकाश की एक हल्की किरण पाकर भी टटोलते हुए एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। परन्तु हमारा विधान तो सूर्य के प्रकाश के समान प्रकाशमान, उज्ज्वल एवं स्पष्ट है; तब ऐसी परिस्थिति में उनका कार्य अत्यन्त सीमित हो जाता है।

(२) अनुकरण का भंडार

हमारे विधान के विरुद्ध एक आरोप यह भी लगाया गया है कि यह अनुकरण के भंडार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। हमारा विधान विश्व के अन्य विधानों का विषम, असंगत एवं असम्बद्ध सम्मिश्रण मात्र है—केवल खिचड़ी के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे विधान निर्माताओं ने विश्व के अन्य विधानों का अनुकरण किया है और स्वतन्त्रता के साथ किया है। कुछ उदाहरणों से यह सत्य भली भाँति स्पष्ट हो जायगा। भारतीय विधान का प्रजातन्त्रात्मक आधार एवं वयस्क मताधिकार पाश्चात्य विचार धाराओं के आदर्श हैं जिनका पूर्व से कोई परिचय नहीं। हमारे विधान का पार्लियामेंट का स्वरूप भी हमारा अपना नहीं अंगरेजों का ही है। विधान का मौलिक अधिकारों का अध्याय अमरीका के 'अधिकार पत्र' के समान ही है। राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तों में हमें आङ्ग्लिश आदर्श के दर्शन होते हैं। भारतीय संघ का राष्ट्रपति फ्रांस के राष्ट्रपति का प्रतिरूप ही है।

भारतीय विधान के निर्माताओं ने विश्व के अन्य विधानों का अनुकरण तो किया है परन्तु उन्होंने उस अनुकरण को भी भारतीय आवश्यकताओं के अनुकूल बना दिया है। हमारा विधान विश्व के अन्य विधानों से ली गई धाराओं का असंगठित एवं अव्यवस्थित समूह नहीं है। अनुकरण की गई धाराओं का ताना-बाना इस प्रकार से बुन दिया गया है कि उसमें चारों ओर सम्बद्धता एवं असंदिग्धता का दर्शन होता है। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारे विधान निर्माताओं ने जो कुछ अनुकरण किया वह आँखें मूँद कर नहीं किया बल्कि उन्होंने आँखें खोलकर केवल उन धाराओं का ही अनुकरण किया है जो अपने देश के लिए लाभदायक सिद्ध हो सकती

थीं। देश के हितार्थ उन्होंने अन्य विधानों की धाराओं को अस्वीकार करने में लज्जा का अनुभव नहीं किया। विधान सभा के सभापति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने इन्के की चोट यह कहा था कि “हम इस बात के लिए बाध्य नहीं हैं कि एक ऐसा विधान निर्मित करें जो पूर्ण रूप से विश्व के अन्य विधानों के ज्ञात प्रकारों की पंक्ति में आता हो।”^१ एक नागरिकता तथा देश के लिए एकसुसंगठित न्याय व्यवस्था—यह मौलिक एवं नवीन प्रवर्तन अथवा नवीन पद्धति है जो हमारी राष्ट्रीय एकता के स्वस्थ विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त जो आलोचक अनुकरण के दृष्टिकोण के आधार पर हमारे विधान की आलोचना करते हैं, कदाचित् उस लक्ष्य के प्रति उनकी धारणा मिथ्या है जो विधान सभा के सदस्यों ने अपने सम्मुख रखा था। उनका विचार है कि कदाचित् वे सदस्य एक मौलिक विधान का निर्माण कर रहे थे। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि उनका उद्देश्य केवल एक ऐसा विधान निर्माण करना था जिसके द्वारा उत्तम रूप से कार्य व्यवस्था हो, चाहे वह विधान मौलिक हो अथवा इसके विपरीत। इसके अतिरिक्त आज जब कि विश्व के विधान—जो अनेक प्रकार के हैं—इतने व्यापक एवं विकसित हो गए हैं, कि एक मौलिक विधान का निर्माण करने की चेष्टा केवल एक भावुक कल्पना ही होती जिसमें तर्क और आधार न होते।

(३) जनता का विधान ?

आलोचकों का एक आरोप यह भी है कि यह विधान सभा के उन सदस्यों के परिश्रम का फल है जो किसी भी रूप में जनता के प्रतिनिधि नहीं थे। इस सभा के सदस्यों का निर्वाचन प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों ने साम्प्रदायिक आधार पर अप्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा किया था। यह निर्वाचन सन् १९४६ में सम्पन्न हुआ था। जिन मतदाताओं ने इन सदस्यों को चुना था वे वयस्क मतदाताओं का केवल ११% से १४% के अनुपात में थे। सन् १९४७ के स्वातन्त्र्य एक्ट के पश्चात् यही विधान सभा कानून निर्माण करने वाली सभा के रूप में परिवर्तित कर दी गई। विभाजन के पश्चात् यह संस्था ३०७ सदस्यों की अवशेष संस्था के रूप में रह गई जिसमें २३५ सदस्य प्रान्तों के थे और ७२ सदस्य देशी राज्यों के। समाजवादी दल का यह मत है कि यह विधान सभा राजनैतिक दृष्टिकोण से जनता की वास्तविक प्रतिनिधि नहीं थी क्योंकि इसका निर्वाचन वयस्क मतधिकार के आधार पर नहीं हुआ था इसलिए इस सभा द्वारा निर्मित विधान को जनता की इच्छाओं और आकांक्षाओं का प्रतीक नहीं कहा जा सकता।

1. “We are not bound to have a constitution which completely and fully falls in line with known categories of constitutions in the world.”
—Dr. Rajendra Prasad.

उस समय इस तर्क की नींव भी हिल जाती है जब हम इस सत्य का अनुभव करते हैं कि उस समय राजनैतिक वातावरण एवं परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार की थीं कि यदि वयस्क मताधिकार के आधार पर भी उस समय इस प्रकार की सभा का निर्वाचन होता तो काँग्रेस की विजय निश्चित थी, और तब उस दशा में भी विधान सभा का स्वरूप, उसकी सम्मति और आदर्श इसी प्रकार के होते। परिणामस्वरूप हमारा विधान भी इसी प्रकार का होता। श्रमिक नेता श्री एन. एम. जोशी ने भी इस दृष्टिकोण का समर्थन निम्नलिखित शब्दों में किया था :

“यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन की व्यवस्था करने में यथेष्ट समय लगता, और यदि वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन की व्यवस्था की भी जाती तो कदाचित् काँग्रेस दल को विधान निर्माण करने वाली संस्था में निश्चित बहुमत प्राप्त होता।”^१

(४) लौकिक राज्य शासन विधि से भय

कुछ विचारकों को लौकिक भारतीय राज्य की धारणा में एक संकट का आभास प्रतीत होता है। राज्य शासन विधि की शैशवावस्था की इस विशेषता के कारण यह संभव है कि जनता पूर्ण रूप से अनात्मवादी अथवा भौतिकवादी दृष्टिकोण का विकास कर ले और रामायण, भगवद्गीता आदि जैसे आत्म-ज्ञान के कोषों की ओर से अनभिज्ञ हो जाय, और उन्हें अरुचि की दृष्टि से देखने लगे। ऐसे आलोचकों का विचार है कि लौकिकता के कारण भारतवर्ष कहीं धर्म और ईश्वर को न त्याग बैठे और अनीश्वरवादी एवं नास्तिक न हो जाए।

परन्तु यह विचारधारा भ्रमपूर्ण है। यह आलोचना लौकिक राज्य के मिथ्या एवं भ्रमति अर्थ पर आधारित है। लौकिक राज्य शासन विधि, जैसा कि वेंकटरमन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ‘लौकिक राज्य पर एक प्रबन्ध’ (A Treatise on Secular State) में लिखा है “न तो धार्मिक होती है न अधार्मिक और न धर्म के विरुद्ध होती है, परन्तु वह धार्मिक सिद्धान्तों और कार्यों से पूर्ण रूप से असम्बद्ध होती है और इस प्रकार धार्मिक क्रियाओं में वह तटस्थ रहती है।”^२

^१ “It has to be admitted that organising elections on adult franchise basis would have taken some substantial time and perhaps even if elections on adult suffrage basis had been held the congress party would have secured a definite majority in this constitution making body.”

From ‘Blitz’—dated 26th January, 1950

—Sri N. M. Joshi.

^२ A secular polity “is neither religious nor irreligious, not anti-religious but is wholly detached from religious dogmas and activities and is thus neutral in religious matters.”

—Venkataraman.

इस प्रकार भारतवर्ष में लौकिक राज्य का संकेत अथवा उद्देश्य वास्तविकता और अधार्मिकता का प्रचार नहीं। इसके अतिरिक्त धर्म और विश्वास व्यक्तिगत आचरण की वस्तु हैं जिन पर राज्य का नियन्त्रण नहीं के समान रहता है। गीता और महाभारत, जो धार्मिक बाधाओं के होते हुए भी जीवित रहें, विश्व में व्याप्त आज के धार्मिक सहिष्णुता के युग में किसी भी प्रकार लोप नहीं हो सकतीं। यही सहिष्णुता लौकिकता का मूल आधार है। इन पुस्तकों का अपना एक स्थान है, अपना एक पृथक् महत्व और वैभव है, जिसे न तो कालचक्र ही समाप्त कर सकता है और न मानव की भावनाओं का ज्वार ही।

(५) भारतवर्ष में प्रजातन्त्र ?

कुछ आलोचकों का मत यह भी है कि अभी भारतवर्ष में प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं का प्रवेश न कराया जाए। भारतीय विधान के अन्तर्गत २१ वर्ष तथा उससे अधिक आयु का व्यक्ति मतदान कर सकता है। आलोचकों का कथन है कि भारतवर्ष अभी इस योग्य नहीं कि यहाँ इतने व्यापक रूप से प्रजातन्त्र का प्रयोग किया जाए। दृढ़ निराशावादी के स्वभाव वाले व्यक्ति के समान वे भारतवर्ष के समस्त व्यस्क नागरिकों को मताधिकार प्रदान करने से डरते हैं—उन नागरिकों को जो अभी शिक्षित नहीं हैं और जिन्हें १५० वर्षों से प्रजातन्त्रात्मक सरकार की शिक्षा नहीं मिली है। इस स्थान पर आलोचकों का डर केवल भ्रम मात्र ही है। वे इस स्थायी सत्य को विस्मरण कर बैठते हैं कि प्रजातन्त्र स्वयं ही एक पाठशाला है, और दोष और उनके सुधार के साथ प्रजातन्त्र स्वयं व्यक्तियों को हृदयों में बिठा देता है।

(६) असंघात्मकता का आरोप

कुछ आलोचकों का मत यह है कि भारतवर्ष के लिए संघ शासन उपयुक्त नहीं। इन आलोचकों में प्रोफेसर के० सी० व्हेर मुख्य हैं। उनका मत है कि :

“इसके (विधान के) द्वारा सरकार की एक ऐसी प्रणाली स्थापित की गई है जो अधिक से अधिक पाल्लिक रूप से संघात्मक है, जिसका स्वरूप लगभग निक्षेपण की प्रवृत्ति से आच्छादित है, यह अतिरिक्त एवं सहायक संघात्मक विशेषताओं वाला एकात्मक राज्य है न कि अतिरिक्त एकात्मक विशेषताओं वाला संघात्मक राज्य।”¹

कदाचित् हमारे विधान की संघात्मकता के एकात्मक लक्षण ने प्रोफेसर व्हेर को अत्यन्त आगे बढ़ा दिया है। यह एक वास्तविकता है, जैसा कि डाक्टर डी० एन०

1. “It establishes indeed a system of government which is at most quasi-federal almost devolutionary in character; a unitary State with subsidiary federal features rather than a federal state with subsidiary unitary features.”

—Prot. K. C. Wheare.

बनज ने लिखा है कि “भारतवर्ष के विधान का स्वरूप संघात्मक है परन्तु उसमें व्यवस्थित एकात्मक लक्षण भी हैं।”^१

परन्तु यह एकात्मक लक्षण किसी भी रूप में हमारे विधान के संघात्मक स्वरूप के विरुद्ध नहीं हैं। विधान निर्माताओं का उद्देश्य यही था कि असाधारण परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर यही संघात्मक प्रणाली एकात्मक सरकार का स्वरूप ग्रहण करले, और जिस समय राजनैतिक वातावरण शान्त एवं स्वच्छ हो तब यह प्रणाली संघात्मक ही रहे। वास्तव में विधान सभा के सदस्यों ने इस स्थान पर अपनी विद्वत्ता प्रकट की है। राजनैतिक विचारकों का यह मत है कि संघात्मक सरकार एक दुर्बल सरकार होती है और विशेष रूप से असाधारण परिस्थितियों में, क्योंकि इस प्रकार की व्यवस्था में शक्ति एक हाथों में केन्द्रित न रह कर अनेक इकाइयों में विभाजित रहती है। एक दार्शनिक की विचारधारा में बहते हुए आलोचकों का यह कथन है कि जब मूसलाधार वर्षा होगी और जल प्रवाह बढ़ेगा, जब आँधी और तूफान के वेग में और भी वृद्धि होगी, जब आन्तरिक झगड़ों और बाह्य आक्रमणों द्वारा इसके स्थायित्व पर प्रहार होंगे, तब संघीय भवन का, जो स्वयं में विभाजित है, खड़ा रहना असम्भव हो जाएगा। इसलिए यह आवश्यक ही है कि एक संघीय शासन प्रणाली में असाधारण परिस्थितियों का सामना करने की भी कृष्ण व्यवस्था होनी चाहिए। इस दिशा में भारतीय विधान एक विस्तृत वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक प्रयत्न का प्रतिनिधित्व करता है। “हमारे विधान द्वारा लचीली संघात्मक व्यवस्था प्रस्तावित की गई है, जिसे इतना झुकाया या मोड़ा जा सकता है कि वह असाधारण परिस्थितियों का सामना कर सके और उसका स्वरूप भी नष्ट न हो; और जब वे असाधारण परिस्थितियाँ समाप्त हो जाएं तब वह फिर अपने मूल स्वरूप को ग्रहण कर ले—उसी प्रकार जिस प्रकार कि एक वाहन के लिए मार्ग बनाने के हेतु एक वृक्ष की शाखा को एक ओर खींच लिया जाए और जब वह वाहन निकल जाए तब फिर उस शाखा को छोड़ दिया जाए ताकि वह अपने मूल स्थान पर आ जाए”^२ इस दिशा में हमारा विधान विश्व के लिए एक आदर्श है और उन आलोचकों के इस कथन का उच्चार है कि संघीय सरकार में दृढ़ एवं सुसंगठित राज्य शासन विधि हो ही नहीं सकती।

1 “India’s constitution is federal in form with a pronounced unitary bias.”
—Dr. D. N. Bannerji.

2 “Our constitution provides for a flexible federal structure which can be stretched or bent so as to meet emergencies without breaking its framework, and when the emergency has passed it can slip back into its old form like a tree whose outer branches have been pulled aside to let a vehicle pass.”

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाएगा कि हमारे विधान में अनेक प्रशंसा-
त्मक विशेषताएं हैं यद्यपि उसमें कुछ दोष भी हैं। पूर्ण हो अथवा अपूर्ण, गुणी हो अथवा
दोषी, यह विधान कम से कम एक सुनिश्चित योजना तो है। भारतवर्ष के देश भक्तों
का यह विधान एक ऐसा निष्कपट एवं शुद्ध प्रयत्न है जिसका लक्ष्य राष्ट्र की शक्तियों
को प्रगतिशील और उन्नति शील धाराओं की ओर प्रवाहित करना है। विश्व के अन्य
विधानों के समान हमारा विधान भी अभी केवल अस्थि-पंजर मात्र है। जनता ही
इसका जीवन और प्राण है। भविष्य में हमारे विधान का स्वरूप वही होगा, जो हम
इसे प्रदान करेंगे।

दूसरा अध्याय

नागरिकता

“नागरिक समाज के वे सदस्य होते हैं जो कुछ विशेष कर्तव्यों द्वारा समाज से सम्बन्धित होते हैं, जो समाज के नियन्त्रण में रहते हैं और जो समाज की सुविधाओं का समान आनन्द भोगते हैं।”^१

—वटल

एक स्पष्ट एवं भिन्न भारतीय नागरिकता की संस्था का व्यावहारिक महत्त्व इसी में है कि नागरिकों का अपना एक पृथक् समुदाय अथवा समूह है, इन्हीं को भारतीय नागरिकता के अधिकार और कर्तव्य प्राप्त हैं। अधिकारों में सामाजिक और राजनैतिक दोनों प्रकार के अधिकार सम्मिलित हैं। इसके विपरीत राज्य के प्रति उनके कुछ कर्तव्य भी होते हैं—विशेष रूप से यह कि राज्य के विरुद्ध षडयन्त्र न रचें और सेना आदि में भरती होकर कुछ ठोस कार्य करें। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि नागरिकों को समस्त मौलिक अधिकार भी प्रदान किए जाते हैं, जो व्यक्ति नागरिक नहीं हैं और भारतवर्ष में रह रहे हैं, उन्हें समस्त मौलिक अधिकार नहीं दिए जाते, उनमें से केवल कुछ ही अधिकार प्रदान किए जाते हैं।

भारतीय विधान में संघीय नागरिकता को ही स्वीकार किया गया है। अमरीका के समान यहाँ दोहरी नागरिकता नहीं होगी। भारतवर्ष में केवल संसद को ही यह अधिकार है कि भारतीय नागरिकता की प्राप्ति और हानि से सम्बन्धित कानूनों का निर्माण कर सके।

इस सम्बन्ध में कानून निर्माण करने का अधिकार विधान ने संसद को सौंप दिया है। विधान में केवल यही वर्णन है कि कौन-कौन से व्यक्ति भारतवर्ष के नागरिक कहला सकेंगे। इस प्रकार के व्यक्तियों के समूहों में प्रथम वे व्यक्ति आते हैं जो यहाँ उत्पन्न हुए हों और यहीं निवास कर रहे हों। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वह व्यक्ति, जिसने अथवा जिसके माता-पिता ने भारतीय संघ की सीमा में जन्म ग्रहण किया हो, अथवा भारतीय संघ की सीमा में विधान के लागू होने के दिनांक से (अर्थात् २६

1 “Citizens are the members of the civil society bound to this society by certain duties, subjected to its authority and equal participation in its advantages.”
—Vattel.

जनवरी सन् १९५० से पूर्व) पाँच अथवा पाँच वर्ष से अधिक समय से रह रहा हो, भारतवर्ष का नागरिक कहलाएगा ।

इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति पाकिस्तान से यहाँ आगए हैं उनके सम्बन्ध में भी नागरिकता के अधिकारों का विवेचन विधान में दिया गया है । इस सम्बन्ध में प्रथम सामान्य नियम यह रखा गया कि इस प्रकार के किसी व्यक्ति अथवा उसके माता-पिता अथवा बाबा-दादी के लिए यह आवश्यक था कि उन्होंने अविभाजित भारतवर्ष^१ की सीमा में जन्म लिया हो । इसके अतिरिक्त यदि वह भारतवर्ष और पाकिस्तान में 'प्रवेश पत्र' का नियम लागू होने से पूर्व ही चला आया हो^२, तब तो वह भारतवर्ष की सीमा में का साधारण निवासी था ही, इसलिए वह अपने अधिकार से भी नागरिक हो सकता था । यदि १६ जुलाई सन् १९४८ के पश्चात् वह भारतवर्ष आया हो, तो विधान के लागू होने पर वह भारत सरकार के किसी रजिस्ट्रेशन पदाधिकारी को प्रार्थना पत्र देकर अपना नाम नागरिकों की सूची में रजिस्टर करवा सकता था । इस प्रकार का रजिस्ट्रेशन उसी समय सम्भव था जब कि प्रार्थी प्रार्थना-पत्र देने के दिनांक से ६ मास पूर्व से भारतवर्ष की सीमा में रह रहा हो । यदि कोई व्यक्ति १ मार्च सन् १९४७ के पश्चात् भारतीय सीमा को त्याग पाकिस्तान चला गया हो, तो किसी भी दशा में उसे नागरिक का पद नहीं सौंपा जायगा । उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं होगा जो कानूनी 'प्रवेश पत्र' द्वारा स्थायी रूप से रहने के लिए फिर भारतवर्ष चले आए हों । विधान के अन्तर्गत इस प्रकार के व्यक्तियों को १६ जुलाई सन् १९४८ के पश्चात् का आया हुआ माना जाएगा, इसलिए वे नागरिकता प्राप्त करने के अधिकारी होंगे ।

विधान में यह भी प्रस्तावित किया गया है कि जो भारतीय व्यक्ति भारतवर्ष से बाहर निवास कर रहे हों, उनको दो शतों पर भारतवर्ष का नागरिक स्वीकार किया जाएगा । प्रथम शर्त तो यह है कि इस प्रकार के किसी व्यक्ति अथवा उसके माता पिता अथवा बाबा-दादी के लिए यह आवश्यक है कि उन्होंने अविभाजित भारतवर्ष में जन्म लिया हो । यदि ऐसा है तो वह भारतवर्ष का नागरिक बन सकता है ।

उपर्युक्त दी गई कोई भी धारा विदेशी राज्यों के नागरिकों के लिए लागू नहीं होगी । कोई ऐसा व्यक्ति जिसने अपनी इच्छा से किसी अन्य राष्ट्र की नागरिकता स्वीकार करली हो तो वह व्यक्ति भारतवर्ष का नागरिक नहीं रह सकेगा ।

जो व्यक्ति भारतवर्ष के नागरिक हैं अथवा जो स्वीकार किए जाएँगे, वे नागरिकता की प्राप्ति और हानि के सम्बन्ध में बनाए गए संसद के प्रत्येक कानून के आधीन होंगे । इस धारा के आधीन रहकर यह समस्त व्यक्ति भारतवर्ष के नागरिक रहेंगे ।

^१ सन् १९३५ के मौलिक गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट में दी गई व्याख्या के अनुसार, अर्थात् सन् १९४७ के स्वातन्त्र्य एक्ट द्वारा हुए संशोधन से पूर्व के एक्ट में ।

^२ १६ जुलाई सन् १९४८ से पूर्व ।

तीसरा अध्याय

मौलिक अधिकार

“भारतीय नवीन विधान में जनता को जो मौलिक अधिकार प्रदान किए गए हैं वे विश्व के अनेक देशों के विधानों में पाए जाने वाले मौलिक अधिकार से कहीं अधिक व्यापक एवं वास्तविक हैं।”^१

—श्री एम० अनाथासयनम आयंगर

आरम्भ से ही हमारा विधान अधिकारों के आज्ञा पत्र के रूप में हमें आकर्षित करता है। अधिकार किसी एक देश की स्वतंत्रता के द्योतक हैं। यह प्रजातन्त्र की वह प्राचीर है जिसमें समस्त व्यक्तियों को बिना किसी भेदभाव के समान सम्माना जाता है। अधिकार एक ऐसे स्वतन्त्र और शान्त वातावरण को जन्म देते हैं जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार अधिक से अधिक उन्नति कर सके। विधान में अधिकारों के उल्लेख का तात्पर्य यही होता है कि राज्य की शक्ति को सीमित एवं संकुचित बना दिया जाए जिससे कि मानव की स्वतंत्रता सरकार के आधीन न हो जाए तथा सरकार के कुछ विलक्षण से कार्यों के सम्पादन के हेतु उसका बलिदान न हो जाए। इसके अतिरिक्त किसी देश में अल्प दलों को मौलिक अधिकारों द्वारा ही सुरक्षा प्रदान की जाती है। अधिकारों के महत्त्व को दर्शाते हुए लास्की ने लिखा है :

“संक्षेप में राज्य अधिकारों को जन्म न देकर उन्हें स्वीकार ही करता है, और राज्य का स्वरूप उन अधिकारों से ही स्पष्ट होता है जो किसी काल में स्वीकृत किए जाते हैं।”

हमारे मौलिक अधिकारों की विलक्षणता

यद्यपि हमारे मौलिक अधिकार अन्य देशों के विधानों से असामान्य नहीं हैं परन्तु वे अनेक रूप से विचित्र एवं विलक्षण हैं।

1. “The Fundamental Rights guaranteed to the people under the new Indian Constitution are more elaborate and real than those found in the constitution of several other countries in the world.”

—Sri. M. Anathasayanam Ayyanger.

प्रथम, हमारे विधान में मौलिक अधिकारों का अध्याय अत्यन्त व्यापक है और विधान की उस भूमिका को अधिक दृढ़ एवं निश्चित करने वाला है जो निम्न-लिखित शब्दों में हमारी स्वतन्त्रता के आज्ञापत्र का प्रारम्भ करती है :

“हम भारतवर्ष के निवासी, भारतवर्ष को सर्वोच्च सत्ताधारी प्रजातन्त्रात्मक गणतन्त्र में परिवर्तित करने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर और उसके समस्त नागरिकों को :

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय; विचार, विचार-प्रकाशन, धर्म, विश्वास और पूजा की स्वतन्त्रता; स्तर और अवसर की समानता और वैयक्तिक प्रतिष्ठा और राष्ट्र की एकता के आश्वासन के साथ उन सब में आतृत्व की भावना का विकास प्रदान करने के हेतु;

अपनी विधान सभा में नवम्बर मास के छब्बीसवें दिवस, सन् १९४६ को इस विधान का निर्माण कर ग्रहण करते तथा स्वयं को प्रदान करते हैं।”

हमारे विधान निर्माताओं ने मौलिक अधिकारों द्वारा भारतवर्ष के नागरिकों को उपर्युक्त वस्तुएँ प्रदान करने का प्रयत्न किया है।

द्वितीय, हमारे मौलिक अधिकार कोरे आदर्श ही नहीं हैं। इसके विपरीत यह वे आदर्श हैं जिन्हें भारतवर्ष की परिस्थितियों के अनुकूल एक वास्तविकता के साँचे में ढाल दिया गया है। उदाहरणस्वरूप, स्वतन्त्रता के अगोचर आदर्श को हमारे विधान में इसी हेतु स्थान प्रदान किया गया है कि हमारे अन्य आताओं को भी सुरक्षा प्राप्त हो सके, विशेष रूप से मुसलमानों को जो हमारे देश में आज अल्पदल के रूप में निवास कर रहे हैं। समानता के अलक्षित सिद्धान्त का प्रयोग समाज से तिरस्कृत अभागे अछूतों के उद्धार के लिए किया गया है। इस प्रकार हमारे विधान में जो मौलिक अधिकार हमें प्रदान किए गए हैं वे विशेषरूप से हमारे देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उचित हैं क्योंकि उनको एक वास्तविक दृष्टिकोण से ग्रहण किया गया है। इस प्रकार हमारे मौलिक अधिकारों के दो स्वरूप हैं। वास्तव में यह अधिकार दो प्रकार के हैं—प्रथम आदर्शात्मक और द्वितीय वास्तविक। प्रथम तो अलक्ष्य और अगोचर महत्त्व वाले वे प्रसिद्ध और परिचित मौलिक अधिकार हैं जिन्हें विश्व के अन्य विधानों द्वारा भी स्वीकार किया गया है। और द्वितीय कुछ अन्य वे अधिकार हैं जो इस अगोचर प्रकाश को व्यापक रूप से स्पष्ट करने वाले हैं, तथा जिन्हें इन अधिकारों को देश की आर्थिक और सामाजिक विशिष्ट व्यवस्था के अनुकूल बनाने के हेतु ही प्रदान किया गया है। इस सम्मिश्रण के साथ हमारे विधान में भारतवर्ष की वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह आदर्श प्रतिपादित किए गए हैं। इस प्रकार आदर्शों को वास्तविक रूप प्रदान किया गया है। और इस सम्बन्ध में हमारे मौलिक अधिकार विलक्षण और अनोखे हैं।

तृतीय, हमारे विधान में राज्य को अधिकारों के संरक्षक के रूप में स्वीकार किया गया है। राज्य हमारे अधिकारों और स्वतन्त्रता की रक्षा करता है। विचार-वादी दल के एक विचारक के समान यह कहा जा सकता है कि राज्य की सुरक्षा का अर्थ वास्तव में नागरिकों के अधिकारों की रक्षा ही है। इस दृष्टिकोण से हमारे विधान में व्यक्ति को उसी सीमा तक स्वतन्त्रता प्रदान की गई है जिस सीमा से राज्य के जीवन को कोई भय न हो सके। इस प्रकार व्यक्ति पर इस बात का बल देकर कि कोई अधिकार निरंकुश नहीं है और किसी अधिकार के प्रयोग का सबसे बड़ा आधार है समस्त देश के हित के लिए उसका प्रयोग किया जाना हमारे विधान का उद्देश्य वैयक्तिक स्वतंत्रता के सिद्धान्त और राज्य सुरक्षा के आदर्श का सामंजस्य कर देना ही है। अमरीका की वैधानिक प्रणाली के निर्माताओं के समान हमारे विधान निर्मात राज्य की अचेतन ईर्ष्या से उत्साहित नहीं हुए थे। और इसीलिए एक ओर तो हमारा विधान व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करता है और दूसरी ओर इन अधिकारों के निरंकुश प्रयोग से राज्य की रक्षा करता है। इतने में तो हमारा विधान उचित एवं मुक्त मार्ग पर है। इसका दोष है राज्य की सुरक्षा पर आवश्यकता से अधिक बल देने में—इतना अधिक कि व्यक्ति के अधिकार भी नष्ट होने लगे।

अंत में हमारे विधान ने संघीय न्यायालय को हमारे अधिकारों का संरक्षक नियत किया है। जिस प्रकार पाठशाला का एक विद्यार्थी अपनी पुस्तक छिन जाने पर अपने गुरु के पास जाता है क्योंकि उस स्थान पर वही उसका संरक्षक है, उसी प्रकार अपनी मूल स्वतन्त्रता से वंचित किए जाने अथवा अपने अधिकारों के छिन जाने पर हम सर्वोच्च न्यायालय से प्रार्थना कर सकते हैं क्योंकि हमारे मौलिक अधिकारों का संरक्षक वही है। हमारी अधिकार-प्रणाली की यह एक अन्य विशेषता है।

हमारे अधिकार

अब हमें उन अधिकारों का अध्ययन करना चाहिए जो हमें विधान के अन्तर्गत प्रदान किए गए हैं। हमारे गणतन्त्रात्मक विधान के अन्तर्गत जो अधिकार हमें प्रदान किए गए हैं उनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

समानता का अधिकार

समानता का अधिकार विधान के अन्तर्गत पाँच धाराओं में प्रतिपादित किया गया है। उनका सम्बन्ध (अ) न्याय सम्बन्धी समानता, (ब) धर्म, जाति, गोत्र, अथवा जन्मस्थान के आधार पर भेद भाव पर प्रतिबन्ध; (स) जन सेवा के कार्य में समान अवसर; (द) अछूत प्रथा की समाप्ति और (क) उपाधियों की समाप्ति से है।

हमारे विधान में यह निश्चित किया गया है कि समस्त व्यक्तियों को न्याय के समुख समानता होगी और कानून द्वारा समस्त भारतीयों को समान सुरक्षा प्रदान की जाएगी। धर्म, जाति, गोत्र अथवा जन्मस्थान के आधार पर राज्य अपने नागरिकों

में किसी प्रकार का भेद भाव नहीं करेगा। इन्हीं आधारों पर किसी व्यक्ति पर दूकान तथा अन्य जनस्थानों पर जाने तथा कुओं, तालाबों, स्नानघाटों, सड़कों तथा ऐसे अन्य स्थानों के प्रयोग करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा जिनका प्रबन्ध आंशिक अथवा पूर्ण रूप से राज्य के धन से होता है अथवा जिन्हें राज्य ने जनकार्य के हेतु अर्पण कर दिया है। स्त्री तथा बालकों के सम्बन्ध में राज्य को विशेष व्यवस्था करने का अधिकार है।

उपर्युक्त आधारों में से किसी आधार के कारण किसी व्यक्ति को राज्य के अन्तर्गत किसी पद अथवा नौकरी के लिए अयोग्य नहीं ठहराया जाएगा और न उस के साथ भेद भाव का व्यवहार किया जाएगा। किसी पिछड़े हुए वर्ग के व्यक्तियों के लिए राज्य कुछ पद सुरक्षित रख सकता है जिससे कि राज्य के पदों में उस वर्ग को भी समान प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके।

अछूत प्रथा के नष्ट करने में समानता का अधिकार पूर्णता के उच्चतम शिखर पर पहुँच जाता है। किसी भी रूप में अछूत प्रथा लागू करने पर कानून के अनुसार दण्ड प्रदान किया जा सकता है। अछूत प्रथा की समाप्ति विश्व इतिहास में एक महान् सामाजिक क्रान्ति को पूर्ण करती है। लेखनी के एक संकेत से ही भारत-वर्ष के ३ करोड़ ५० लाख अछूत शताब्दियों की सामाजिक दासता से मुक्त हो गए।

इनके अतिरिक्त, सेना तथा विश्वविद्यालय से सम्बन्धित उपाधियों के अतिरिक्त राज्य अन्य प्रकार की कोई उपाधि प्रदान नहीं करेगा। भारतवर्ष का कोई नागरिक किसी विदेशी राज्य की उपाधि स्वीकार नहीं कर सकेगा। इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति राज्य के अन्तर्गत लाभ अथवा धरोहर का पद ग्रहण किए होगा, वह व्यक्ति राष्ट्रपति की स्वीकृति बिना किसी विदेशी राज्य से किसी प्रकार की भेंट, उपाधि, अथवा किसी प्रकार का पद ग्रहण नहीं कर सकेगा।

आलोचनात्मक निरीक्षण

कुछ इस प्रकार के आलोचक हैं जिन्हें समानता के अधिकार की उपर्युक्त धाराओं में कुछ दोष का अनुभव होता है। उनके दृष्टिकोण को संक्षेप में निम्न प्रकार से रखा जा सकता है:—

(अ) कुछ विद्वानों का विचार है कि स्त्रियों और बालकों के लिए विशेष प्रबन्ध करने की धारा समानता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसमें किसी प्रकार का पक्षपात नहीं होना चाहिए। इस सम्बन्ध में आलोचकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का पक्षपात भी ग्रहण किया गया है तो वह मानव प्रकृति का पक्षपात है जिसका सार एवं तत्त्व उपकार है। स्त्रियाँ और बालक हमारे समाज के निर्बल अंग हैं, इसलिए इनको विशेष रक्षा और व्यवस्था की आवश्यकता है।

(ब) कुछ विचारक इस धारा के भी विरुद्ध हैं कि पिछड़े हुए वर्गों के लिए कुछ पद पर सुरक्षित किए जाएं। उनका कथन है कि इस धारा से योग्यता के आधार पर भरती करने के सिद्धान्त की नींव हिल सकती है। इस स्थान पर यह आलोचक-गण यह विस्मरण कर जाते हैं कि अवसर की समानता का कुछ महत्त्व उसी समय हो सकता है जिस समय समस्त नागरिकों की स्थिति समान हो। एक भिखारी और एक राजकुमार को अवसर की समानता प्रदान करने का अर्थ होगा दरिद्र के लिए और भी अधिक दारिद्र्य। इस प्रकार से समानता प्रतिपादित करना अत्यन्त हास्यास्पद तथा अव्यावहारिक सिद्ध होगा।

कुछ विचारकों का यह भी विचार है कि पिछड़े हुए वर्गों की रक्षा सम्बन्धी धारा का उद्देश्य समाज के पतितों को उठाना है। हमारी सामाजिक-राजनैतिक संस्था के इन दुर्बल अंगों की अस्वाभाविक सुरक्षा के साथ इस धारा से समस्त समाज में बीमारी फैल जाएगी, जिससे समाज की उन्नति और स्वस्थ विकास में बाधा उत्पन्न होगी। यह आलोचकगण 'योग्यों के लिए ही जीवन' वाले सिद्धान्त के अन्तर्गत स्थित अमानुषिक प्रवृत्ति का ही भंडा फोड़ कर रहे हैं। एक माता के समान, प्रजातन्त्र का भी यही कर्त्तव्य है कि वह अपने सब पुत्रों का ध्यान रखे, चाहे वह योग्य हों अथवा अयोग्य। हमारे विधान के अन्तर्गत एक प्रजातन्त्रात्मक हितैषी राज्य की स्थापना की गई है, जिसका यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात का ध्यान रखे कि समाज के कुछ व्यक्ति पिछड़े हुए होने के कारण अपने अधिकारों से वंचित न कर दिए जाएँ; उनका यह पिछड़ा हुआ होना दरिद्रता के कारण हो सकता है, उनकी नीच जाति के कारण हो सकता है अथवा उन सामाजिक 'रुद्धियों' के कारण हो सकता है, जो अन्यायपूर्वक उनके जीवन, स्वतन्त्रता और उन्नति के अधिकारों पर आघात करती हैं। यह अभाग्य जीव अपने पिछड़ेपन के लिए स्वयं उत्तरदायी नहीं; उनकी दशा उन बन्धियों के समान है जिनके हाथ पैरों में बेड़ियाँ पड़ी हुई हैं, वे उन शृंखलाओं को तोड़ना चाहते हैं और तोड़ सकते हैं परन्तु विवशता से तोड़ नहीं पाते। वस्तुतः उनके इस दुःखी जीवन और उनकी हतभाग्यता का उत्तरदायी हमारा समाज ही है। वास्तव में ऐसा करना अत्यन्त ही अन्यायपूर्ण होता कि पिछड़े हुए वर्गों को, बिना उनके किसी अपराध के, दुःख सहने और मरने के लिए छोड़ दिया जाता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन आलोचकों की इस आलोचना का उतना ही महत्त्व है जितना किसी एक कुलीन तन्त्रवादी द्वारा की गई प्रजातन्त्र की अस्पष्ट आलोचना का।

(२) स्वतन्त्रता का अधिकार

हमारे विधान में स्वतन्त्रता के अधिकार का बड़ा व्यापक वर्णन किया गया है। धारा १६ के अन्तर्गत समस्त नागरिकों को (अ) भाषण और विचार प्रकाशन की स्वतन्त्रता का अधिकार, (ब) अस्त्र-शस्त्र रहित तथा शान्ति पूर्वक सम्मिलित होने

का अधिकार; (स) समुदाय तथा संघ बनाने का अधिकार; (स) भारतवर्ष की सीमा में स्वतन्त्रता पूर्वक भ्रमण करने का अधिकार; (क) भारतवर्ष की सीमा में कहीं पर रहने का अधिकार; (ख) सम्पत्ति को प्राप्त करने, रखने और बेचने का अधिकार; (ग) कोई व्यवसाय व्यापार अथवा काम करने का अधिकार; (घ) अपराधी अथवा अपराध सम्बन्धी व्यवस्थापन के प्रति अधिकार; और (ङ) जीवन सुरक्षा और स्वतन्त्रता के अधिकार प्रदान किए गए हैं ।

प्रतिबन्ध

अन्य अधिकारों के समान यह अधिकार भी निरंकुश नहीं है । इन्हें कुछ प्रतिबन्धों के साथ प्रदान किया गया है जो निम्न प्रकार से हैं :—

(अ) भाषण और भाव प्रकाशन की स्वतन्त्रता का अधिकार किसी प्रचलित कानून से सीमित हो सकता है । इस पर प्रतिबन्ध के रूप में राज्य की निन्दा, अनादर; अप्रसिद्धि, न्यायालय के अनादर, अथवा किसी ऐसे विषय के सम्बन्ध में जो नैतिकता के विरुद्ध हो, अथवा जिससे राज्य की सुरक्षा पर कोई आघात होता हो, अथवा राज्य को नष्ट करने के सम्बन्ध में किए जाने वाले षडयन्त्र के सम्बन्ध में कानून बना सकता है ।

(ब) सम्मिलित होने के अधिकार पर दो प्रतिबन्ध हैं—प्रथम, जो व्यक्ति वहाँ सम्मिलित हों उनका आचरण शान्ति पूर्ण हो, और द्वितीय, उनके पास कोई अस्त्र-शस्त्र न हो । संक्षेप में 'जन शान्ति' के हेतु इस अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं ।

(स) संघ अथवा समुदाय बनाने के अधिकार पर भी राज्य के नियम बनाने के अधिकार द्वारा प्रतिबन्ध लगे हुए हैं । यह नियम जन सुरक्षा अथवा नैतिकता तथा इस अधिकार के उचित एवं युक्तिसंगत प्रयोग के लिए लागू किए जा सकते हैं ।

(द) भारतवर्ष अथवा उसके किसी भाग में स्वतन्त्रता पूर्वक भ्रमण करने तथा किसी सम्पत्ति को ग्रहण करने, रखने तथा बेचने के अधिकार के सम्बन्ध में भी राज्य जनता के हित अथवा पिछड़े हुए वर्गों के हित के लिए इस अधिकार के प्रयोग पर कुछ न्यायसिद्ध^१ प्रतिबन्ध लगा सकता है, और इस सम्बन्ध में कुछ नियमों का निर्माण भी कर सकता है ।

^१ 'न्यायसिद्ध' (reasonable) शब्द का प्रयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है । 'न्यायसिद्ध' शब्द के प्रयोग का ही यह तात्पर्य है कि कानून द्वारा जो प्रतिबन्ध लगाए गए हैं वे न्यायसिद्ध हैं अथवा नहीं—इस प्रश्न के निर्णय का अधिकार न्यायालय को होगा जो उद्देश्य पूर्ण तथा निष्पक्षता की कसौटी पर इस प्रश्न का निरीक्षण करेगा । इस प्रकार न्यायालय द्वारा व्यवस्थापिका सभा के एक के निरीक्षण की ओर भी संकेत किया गया है ।

(क) इसी प्रकार कुछ व्यवसाय करने का अधिकार भी कुछ वैयक्तिक, नैतिक अथवा सांकेतिक योग्यताओं पर आधारित है। नागरिकों के स्वास्थ्य की रक्षा और धूर्तता से उनकी रक्षा करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार कोई वृत्ति धारण करने अथवा कोई व्यापार-व्यवसाय करने के अधिकार के सम्बन्ध में भी राज्य जनता के हित के रक्षार्थ कुछ नियम बना सकता है और इस प्रकार इस अधिकार के प्रयोग पर कुछ न्यायसिद्ध^१ प्रतिबन्ध लगा सकता है। इस सम्बन्ध में राज्य किसी अन्य पदाधिकारी को भी यह अधिकार सौंप सकता है कि वह इन व्यवसायों आदि के सम्बन्ध में कुछ योग्यताएँ निश्चित कर दे।

(ख) अन्त में, किन्हीं असाधारण परिस्थितियों में यह सम्भव है कि हमारे अधिकार कुछ काल के लिए स्थगित कर दिए जाएँ। विधान निर्माताओं का विचार यह था कि संकट कालीन अवस्था अथवा असाधारण परिस्थितियों में मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध राज्य द्वारा न लगाए जाने के कारण यह सम्भव है कि राज्य का जीवन और सुरक्षा ही संकट में पड़ जाए। इस कारण मौलिक अधिकारों की धाराओं के अतिरिक्त, राज्य को किसी प्रकार का कानून बनाने अथवा और किसी प्रकार का पग उठाने के लिए अधिकार होगा।

अपराध और अपराधी सम्बन्धी व्यवस्थापन और जीवन और स्वतन्त्रता की सुरक्षा के अधिकारों के अतिरिक्त अन्य अधिकारों की व्याख्या की आवश्यकता नहीं। इन दोनों अधिकारों का विवेचन निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है :

(अ) अपराध एवं अपराधी सम्बन्धी व्यवस्थापन का अधिकार

एक ही अभियोग के लिए दो दण्डों की व्यवस्था तथा पूर्वकालीन अपराध सम्बन्धी व्यवस्थापन को रोकने के लिए हमारे विधान में कुछ नियम प्रस्तावित किए गए हैं। इसमें यह भी निश्चित कर दिया गया है कि एक अपराधी को स्वयं उस के विरुद्ध गवाही देने के लिए विवश नहीं किया जाएगा। वास्तव में यह भय उचित ही है कि एक सर्वोच्च सत्ताधारी व्यवस्थापिका सभा पूर्व कालीन व्यवस्थापन का आश्रय लेकर किसी अभियोग के सम्बन्ध में इनता दण्ड निश्चित कर दे जो उस दण्ड से कहीं अधिक हो जो अभियोग के समय में प्रचलित कानून के अन्तर्गत निश्चित था। पूर्वकालीन

^१ 'न्यायसिद्ध' (reasonable) शब्द का प्रयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 'न्यायसिद्ध' शब्द के प्रयोग का ही यह तात्पर्य है कि कानून द्वारा जो प्रतिबन्ध लगाए गए हैं वे न्यायसिद्ध हैं अथवा नहीं—इस प्रश्न के निर्णय का अधिकार न्यायालय को होगा जो उद्देश्य पूर्ण तथा निष्पक्षता की कसौटी पर इस प्रश्न का निरीक्षण करेगा। इस प्रकार न्यायालय द्वारा व्यवस्थापिका सभा के एकट के निरीक्षण की ओर भी संकेत किया गया है।

अपराध सम्बन्धी व्यवस्थापन के आधार पर दृष्टित किए जाने के सम्बन्ध में हमारे विधान ने प्रतिबन्ध लगाए हैं। वास्तव में यह प्रतिबन्ध उस व्यवस्थापिका सभा पर है जो पूर्वकालीन व्यवस्थापन का अनुमोदन करती है।

हमारे विधान में यह प्रस्तावित किया गया है कि कोई व्यक्ति एक ही अभियोग के लिए एक से अधिक बार दृष्टित नहीं किया जाएगा तथा किसी अपराधी को स्वयं के विरुद्ध गवाही देने के लिए विवश नहीं किया जाएगा चाहे उसका अभियोग कुछ भी हो। इनके द्वारा हमारे विधान ने भारतवर्ष के कानूनी धर्मशास्त्र में सर्वसाधारण के कानूनों के दो सिद्धान्तों को स्थान प्रदान किया है।

(ब) जीवन और वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा का अधिकार

हमारे विधान में यह भी प्रस्तावित किया गया है कि कानून प्रणाली के अतिरिक्त किसी अन्य प्रणाली द्वारा किसी व्यक्ति का जीवन अथवा उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हरण नहीं किया जाएगा। इस प्रकार हमारे विधान ने देश में कानून की सत्ता को प्रतिपादित किया है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जीवन और स्वतन्त्रता का अधिकार भी निरंकुश नहीं है। हमारे विधान में केवल यही स्वीकार किया गया है कि कानून प्रणाली के अतिरिक्त किसी अन्य साधन द्वारा किसी व्यक्ति के जीवन अथवा वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हरण नहीं किया जाएगा। किसी व्यक्ति को कानून विरुद्ध अथवा निरंकुश रूप से शारीरिक हानि नहीं पहुँचाई जा सकेगी और न उसे बिना किसी कारण के बन्दीगृह में ही रखा जा सकेगा। हमारे विधान में यह भी प्रस्तावित किया गया है कि किसी व्यक्ति को उसके अपराध के बारे में अथवा उसको बन्दी बनाने के कारणों को शीघ्रतिशीघ्र^१ बतलाए बिना उसे बन्दीगृह में अधिक समय तक नहीं रखा जा सकेगा।

अपराधी को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह अपनी इच्छानुसार किसी धर्मज्ञ से परामर्श ले अथवा उसे अपने अपराध के सम्बन्ध में वादविवाद करने के लिए रख ले। विधान में यह भी प्रस्तावित किया गया है कि जिस व्यक्ति को बन्दी बनाकर हवालात में रखा जाता है उसे चौबीस घंटों के समय में ही किसी निकटतम न्यायाधीश के सन्मुख उपस्थित किया जाए। इन चौबीस घंटों में बन्दीगृह से न्यायालय तक जाने का समय सम्मिलित नहीं है। न्यायाधीश की आज्ञा के अतिरिक्त और कोई व्यक्ति इस समय से अधिक किसी को बन्दीगृह में नहीं रखा सकता।

^१ 'शीघ्रतिशीघ्र' के सम्बन्ध में श्री. जी. एन. जोशी ने लिखा है कि "यह अत्यन्त ही सन्दिग्ध शब्द है। यदि इसका यह अर्थ है कि जितना शीघ्र सम्भव हो सके, तो यह भी उतना ही सन्दिग्ध एवं अनिश्चित है।"

प्रतिबन्धक अवरोध ^१

बन्दी बनाए गए किसी व्यक्ति को चौबीस घंटों के समय में किसी न्यायाधीश के सम्मुख उपस्थित करने की धारा निम्नलिखित दो स्थानों पर लागू नहीं होती :—

(अ) उस व्यक्ति के सम्बन्ध में जो अस्थायी रूप से विदेशी शत्रु हो, अथवा

(ब) उस व्यक्ति के सम्बन्ध में जिसे किसी कानून के अन्तर्गत प्रतिबन्धक

अवरोध के लिए रखा गया हो । ^२

हमारे विधान में यह भी प्रस्तावित किया गया है कि संसद किसी कानून द्वारा प्रतिबन्धक अवरोध प्रस्तावित कर सकती है। यह भी प्रस्तावित किया गया है कि इस प्रकार के कानून के अन्तर्गत किसी व्यक्ति को तीन मास से अधिक नहीं रोका जा सकेगा। परन्तु यदि परामर्शदात्री समिति (Advisory Board), जिसके सदस्य इतने योग्य हों कि किसी हाईकोर्ट के न्यायाधीश नियुक्त किए जा सकते हों, तीन मास के समय के समाप्त होने से पूर्व अपनी यह सम्मति प्रदान करें कि यह अवरोध उचित एवं युक्तिसंगत है तो इस समय को अनिश्चित काल के लिए बढ़ाया जा सकता है। किसी व्यक्ति को तीन मास से अधिक रखा जा सकता है यदि उसे धारा की उपधारा ७ के अन्तर्गत प्रस्तावित किसी ऐसे कानून द्वारा रोका गया हो जिन्हें प्रतिबन्धक अवरोध के हेतु प्रस्तावित किया गया था। यदि किसी व्यक्ति को इस प्रकार रोका जाता है तो इस प्रकार रोके रखने का आदेश देने वाले पदाधिकारी का यह कर्तव्य है कि वह उस व्यक्ति को इस प्रकार रोके रखे जाने के कारण बतला दे। इस प्रकार रोके गए व्यक्ति को शीघ्रताशीघ्र इस बात का अवसर प्रदान करना चाहिए कि वह पदाधिकारियों के आदेश के विरुद्ध अपना प्रतिनिधित्व कर सके। जिन तथ्यों को अधिकारी जनहित के विरुद्ध समझें उनको स्पष्ट एवं प्रकट करने के लिए वह बाध्य नहीं है। जिन आधारों पर उन्होंने इस प्रकार का आदेश प्रदान किया है उन आधारों को प्रकट किया जा सकता है।

आलोचनात्मक निरीक्षण

विधान द्वारा प्रदान किए गए स्वतन्त्रता के अधिकार की बड़ी कड़ी आलोचना की गई है। आलोचकों का यह विचार है कि स्वतन्त्रता के अधिकार पर प्रतिबन्धों के

1 Preventive Detention.

^२ संघीय संसद ने प्रतिबन्धक अवरोध का एक पास कर दिया है और जैसे ही यह पृष्ठ मुद्रालय में जाएँगे, उस समय पंडित नेहरू की सरकार Preventive Detention (Second Amendment Bill) के एक का सामान्य से संशोधन के साथ नवीनकरण कर रही है। इसे संसद के दोनों भवन स्वीकार कर चुके हैं, और केवल राष्ट्रपति के हस्ताक्षर बाक़ी हैं।

रूप में जो शृंखला डाली गई है वह अपनी संदिग्धता एवं अनिश्चितता में इतनी व्यापक एवं विस्तृत है कि यह सम्भव है कि वह स्वयं अधिकार के तत्त्व और सार को ही संशय में डाल देगी। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए गए हैं :

(अ) जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है भाषण और भाव प्रकाशन की स्वतन्त्रता के अधिकार को राज्य द्वारा सीमित किया जा सकता है यदि उस अधिकार का सम्बन्ध “किसी ऐसे विषय से हो जो नैतिकता के विरुद्ध हो, अथवा जो राज्य की सुरक्षा के लिए संकटमय हो अथवा जिसके द्वारा राज्य को नष्ट करने का षड्यंत्र किया जा रहा हो।” यह प्रतिबंध भी अपने आवरण में संदिग्ध है। यह प्रतिबंध इतना लचोला है कि इसका कुछ भी और कोई भी अर्थ लिया जा सकता है। यह गवर्नर जनरल के उस विशेष उत्तरदायित्व के समान है जिसके अंतर्गत वह भारतवर्ष अथवा उसके किसी भाग की शांति और सुरक्षा के लिए उत्तरदायी था। एक इस प्रकार की सरकार के हाथों में जो शक्ति के लिए लालायित हो, इस प्रतिबंध को इस व्यापक अधिकार के चारों ओर शृंखला के रूप में इतनी बुरी तरह से डाला जा सकता है कि इस अधिकार के प्रयोग को नहीं के समान बना दे। “इस व्यापक सिद्धांत के अन्तर्गत” जैसा कि श्री जी. एन. जोशी ने प्रतिबन्ध लिखा है, “संसद साधारण व्यवस्थापन द्वारा भी इस अधिकार के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा सकता है।”

(ब) इसी प्रकार सम्मिलित होने के अधिकार के विरुद्ध जनसुरक्षा का प्रतिबन्ध भी एक ऐसा प्रतिबन्ध है जिसका कोई निश्चित एवं स्वीकृत अर्थ नहीं और इसलिए इसका प्रयोग इसके निश्चित क्षेत्र में बाहर भी किया जा सकता है।

(स) हमारे विधान में यह प्रस्तावित किया गया है कि निश्चित कानून प्रणाली के अतिरिक्त किसी अन्य प्रणाली द्वारा किसी व्यक्ति का जीवन और उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं किया जाएगा। ‘कानून द्वारा स्थापित प्रणाली के अतिरिक्त’— सामान्य रूप से इस शब्दावली को जो अर्थ प्रदान किया जा सकता है उससे यह सम्भव है कि हमारा वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार नाम मात्र के लिए ही रह जाए। प्रणाली का अर्थ है उस रीति अथवा ढंग से जिसके द्वारा किसी व्यक्ति को बन्दी बनाया जाता है अथवा उसे रोका जाता है। इस प्रकार ‘कानून द्वारा स्थापित प्रणाली के अतिरिक्त’ के सिद्धान्त का तात्पर्य यही है कि यदि व्यवस्थापिका सभा द्वारा कोई एकट पास किया जाए जिसमें किसी व्यक्ति को किसी ऐसे कार्य के लिए बन्दी बनाए जाने तथा रोके रखने के लिए प्रस्तावित किया गया हो जिस कार्य का उल्लेख कानून के अन्तर्गत हो, तो उस व्यक्ति को बन्दी बनाया जा सकता है और वह प्रणाली कानून के अनुसार मानी जाएगी। यदि किसी व्यक्ति को व्यवस्थापिका सभा द्वारा निश्चित प्रणाली के अनुसार बन्दी बनाया जाता है तो यह बन्दी बनाया जाना ‘निश्चित प्रणाली के अनुसार’ होगा। इस धारा का दोष यही है कि यह इस अधिकार के प्रयोग

के सम्बन्ध में हेबियस कॉर्पस^१ के सिद्धांत पर आघात करती है। हेबियस कॉर्पस एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसका आश्रय कानून विरुद्ध अवरोध को समाप्त करने में लिया जा सकता है। इसलिए यह भी स्वाभाविक है कि यदि व्यवस्थापिका सभा कुछ विशेष आधारों पर बन्दी किए जाने तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप किए जाने के सम्बन्ध में कुछ कानून बनाती है और यदि किसी व्यक्ति को उन्हीं आधारों पर बन्दी बनाया जाता है तो वह बन्दी बनाया जाना कानूनी होगा और उसके सम्बन्ध में हेबियस कॉर्पस लागू नहीं होगा।

(द) अन्त में प्रतिबंधक अवरोध की धारा हमारी मौलिक स्वतंत्रताओं पर एक प्राणघातक प्रहार के समान है। प्रतिबंधक अवरोध के अन्तर्गत एक व्यक्ति को बन्दी बनाया जा सकता है और उसे तीन मास तक बिना कुछ न्याय किए रोका जा सकता है। और इससे अधिक दुर्गति हो भी क्या सकती है। प्रतिबंधक अवरोध ने इस प्रकार भारतवासियों को, जैसा कि श्री. के. टी. शाह ने वंगवर्ण भाषा में लिखा है, “बिना किसी न्याय के तीन मास के अवरोध का अधिकार प्रदान किया है।” परामर्शदात्री समिति से कोई सम्मति लेने की आवश्यकता अनुभव करते हुए संसद अवरोध के इस समय को अनिश्चित काल के लिए बढ़ा सकती है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रतिबंधक अवरोध के किसी एकट का निरीक्षण न्यायालय नहीं कर सकेगा, भले ही वह कार्य कितना ही बुरा, अनाचारी एवं अत्याचारी क्यों न हो। हमारे विधान में प्रस्तावित प्रतिबंधक अवरोध वास्तव में ब्रिटिश राज्य के युद्धकालीन ‘भारतीय सुरक्षा के नियम’ (Defence of India Rules) का प्रतिरूप ही है। इस सम्बन्ध में श्री जी. एन. जोशी का कथन उल्लेखनीय है कि “यह एक ऐसी धारा है कि इसका प्रयोग संकटकालीन अवस्था में होना चाहिए, परन्तु यह निश्चित नहीं है कि इसका प्रयोग केवल संकटकालीन अवस्था में ही होगा।”^२

जस्टिस महाजन ने लिखा है कि : “प्रतिबंधक अवरोध का अर्थ है वैयक्तिक स्वतंत्रता और भ्रमण की स्वतंत्रता का पूर्ण निषेध, यह इन दोनों विषयों से बेमेल और असंगत है, परन्तु फिर भी इसे उन्हीं के साथ उसी एक विभाग में स्थान प्रदान किया गया है।”^३

^१ न्यायालय में अथवा न्यायाधीश के संमुख अपराधी को उपस्थित करने की आज्ञा।

^२ “This is a crisis provision but it is not confined to a crisis.”

—Sri G. N. Joshi.

^३ “Preventive Detention means a complete negation of freedom of movement and of personal liberty and is incompatible with both the subjects and yet it is placed in the same compartment with them.”

—Justice Mahajan.

प्रतिबन्धक अवरोध की धारा हमारे देश में विचित्र है। यह स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र दोनों की मूल भावना के ही विरुद्ध है। आलोचकों का यह कथन कुछ अत्युक्ति पूर्ण नहीं है कि इस धारा के अन्तर्गत राज्य की सुरक्षा के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता का बलिदान कर दिया गया है। राज्य लिप्सा से लालाधित एवं तृपित एक शासक के हाथों द्वारा प्रतिबन्धक अवरोध की इन धाराओं का प्रयोग व्यक्तियों की स्वतन्त्रताओं को छीनने के लिए किया जा सकता है। नित्य एवं सनातन अप्रमत्तता ही स्वतन्त्रता का मूल्य है। भारतवर्ष में इसकी और भी आवश्यकता है। हमें राज्य के हस्तक्षेप के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए स्वयं सैनिक और संरक्षक का स्वरूप ग्रहण करना पड़ेगा।

(३) बेगार के विरुद्ध अधिकार

बेगार के विरुद्ध अधिकार द्वारा हमारे विधान ने भारतीय जनता को आर्थिक और व्यावसायिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्रदान की है। जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है, समस्त व्यक्तियों को भारतवर्ष की सीमा में व्यापार और व्यवसाय का अधिकार प्रदान किया गया है। बेगार आदि का निषेध किया गया है तथा देश के कानून के अन्तर्गत इसे अभियोग माना गया है तथा इसके लिए दण्ड भी निश्चित किया गया है। चौदह वर्ष से कम आयु के बालकों का नौकरी करना वर्जित घोषित किया गया है। जन सेवा तथा सैनिक कार्यों के सम्पादन के लिए राज्य कुछ सेवाएँ निश्चित कर सकता है।

आलोचनात्मक निरीक्षण

इन अधिकारों का उद्देश्य भारतवर्ष के नागरिकों में सामाजिक संतुलन उत्पन्न करना, सबल के हाथों से निर्बलों की रक्षा करना, और इस प्रकार व्यक्तियों को आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करना है। हमारे प्रजातन्त्रात्मक निर्माण में इनका सम्मिलित किया जाना तर्कानुसार संगत था। इस निर्माण में सब को समान समझ कर व्यक्ति के व्यक्तित्व को स्पष्ट करना है। क्योंकि जैसा कि थियोडोर पार्कर ने लिखा है कि, “प्रजातन्त्र का यह अर्थ नहीं कि ‘मैं उतना ही उत्तम हूँ जितने तुम हो’, बल्कि ‘तुम उतने ही उत्तम हो जितना मैं हूँ’।”^१ यह अधिकार हमारी नव-जन्मत राज्य शासन विधि के हितैषी राज्य के स्वरूप को पुष्ट करते हैं।

(४) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार

हमारे विधान के अन्तर्गत भारतवर्ष के नागरिकों को जाति अथवा गोत्र के किसी भेद भाव के बिना धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। इसके साथ-साथ हमारे

1. “Democracy means not ‘I am as good as you are’, but ‘you are as good as I am’.”

—Theodore Parker.

राज्य को लौकिक राज्य का स्वरूप भी प्रदान किया गया है। राज्य का कोई अपना धर्म नहीं है जिसका वह प्रचार अथवा प्रसार करे। भारतीय राज्य शासनविधि की लौकिकता पर इस बात से और अधिक बल दिया गया है कि जिन शैक्षिक संस्थाओं का संचालन राज्य के धन से होता है, उन संस्थाओं में किसी धर्म की शिक्षा प्रदान नहीं की जाएगी। जो शैक्षिक संस्थाएँ राज्य द्वारा स्वीकृत हैं अथवा जिन्हें राज्य द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है, वे संस्थाएँ भी किसी व्यक्ति को उसकी सम्मति बिना, अल्पायु होने पर उसके संरक्षक की सम्मति बिना, किसी विशेष धार्मिक आराधना के लिए विवश नहीं कर सकेंगी। धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार एक निरंकुश अधिकार के रूप में प्रदान नहीं किया गया है। हमारे विधान में यह प्रस्तावित किया गया है कि “जन सुरक्षा, नैतिकता और इस भाग की अन्य धाराओं के अतिरिक्त, समस्त व्यक्तियों को धार्मिक स्वतन्त्रता और धर्म के प्रचार और प्रसार की पूर्ण स्वतन्त्रता है।” सिखों को कृपाण रखने की आज्ञा प्रदान की गई है। इसी प्रकार प्रत्येक धार्मिक वर्ग को अपने धार्मिक कार्यों का प्रबन्ध करने, और धार्मिक तथा दान सम्बन्धी उद्देश्यों के लिए सम्पत्ति ग्रहण करने तथा उसका प्रबन्ध करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है।

आलोचनात्मक निरीक्षण

विधान में धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार को स्थान प्रदान करते समय हमारे विधान निर्माताओं ने इतिहास से शिक्षा ग्रहण की है। हमारा देश विभिन्न धर्मों का केन्द्र रहा है। परिणाम स्वरूप उसे अपनी प्रजा की धार्मिक असहिष्णुता तथा शत्रुता से अनेक कष्ट उठाने पड़े। उसके धार्मिक मतभेदों के कारण अनेक शताब्दियों तक उसे राजनैतिक दासता का बोझ सहना पड़ा। धर्म और राष्ट्रीय राजनीति के मिश्रण ने भारतवर्ष को विभाजित कर दिया। जब धार्मिक पक्षपात को राज्य का आधार बना दिया गया, तब शक्तिशाली मुगल साम्राज्य का अन्त हो गया। और इसीलिए हमारे विधान ने धार्मिक सहिष्णुता के उस सिद्धान्त को स्थापित किया है, जो इतिहास द्वारा एक उन्नतिशील एवं प्रगतिशील राज्य के आधारस्वरूप अत्यन्त सफल सिद्ध हुआ है।

(५) सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकार

विधान के अन्तर्गत सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकार प्रदान करने वाली धारा, जैसा कि विधान सभा के एक सदस्य ने कहा था, “अल्पदलों के अधिकारों का एक नवीन युग खोलती है। यह धारा अल्पदल के अपनी भाषा और संस्कृति के अधिकार को सुरक्षित करती है; राज्य किसी कानून द्वारा उस पर किसी अन्य स्थानीय संस्कृति को नहीं लाद पाएगा।” इस प्रकार अल्पदलों को इस बात का पूर्ण अवसर प्रदान किया गया है कि वे अपनी स्वयं की परिस्थितियों, विद्वत्ता और संस्कृति के

अनुसार चाहे जितना विकास कर लें। प्रत्येक अल्पदल को—धार्मिक हो अथवा भाषा से सम्बन्धित—अपनी भाषा, लिपि और संस्कृति को सुरक्षित रखने का अधिकार प्रदान किया गया है। उन्हें इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की गई है कि वे अपनी इच्छा के अनुकूल शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना और उनका संचालन करें, और इस प्रकार की संस्थाओं को अनुदान प्रदान करते समय राज्य किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं करेगा। जिन शैक्षिक संस्थाओं का संचालन राज्य द्वारा होता है अथवा जिन्हें राज्य द्वारा अनुदान प्रदान किया जाता है, उन संस्थाओं में किसी व्यक्ति से उसके धर्म, जाति, गोत्र अथवा भाषा के आधार पर प्रवेश के लिए मना न किया जा सकेगा। इस प्रकार अपने पृथक लाभ के साथ-साथ अल्पदलों को भी वही शैक्षिक सुविधाएँ प्राप्त होंगी, जो बहुमत दल के नागरिकों को प्रदान की गई हैं।

आलोचनात्मक निरीक्षण

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है हमारा विधान धर्म अथवा भाषा पर आधारित अल्पदलों को केवल स्वीकार ही नहीं करता बल्कि उनकी भाषा, उनकी लिपि और उनकी संस्कृति की रक्षा की व्यवस्था भी करता है। इस सम्बन्ध में विधान की धाराएँ अत्यन्त संदिग्ध हैं। परिणामस्वरूप, इनकी व्याख्या में भी अधिक कठिनाई अनुभव होनी चाहिए। यह कथन भी कुछ अत्युक्तिपूर्ण एवं असंगत नहीं कि इन सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकारों से यह सम्भव है कि हमारी राष्ट्रीय एकता, भाषा और संस्कृति के विकास में बाधा उपस्थित हो। शैक्षिक और सांस्कृतिक अधिकार हमारे विधान में नेहरू रिपोर्ट के भग्नावशेष हैं जिसका यह मत था कि अल्पदलों को सुरक्षा के रूप में सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकार प्रदान किए जाएँ जिससे कि बहुमत दल के अत्याचार का डर उनके हृदय से निकल जाए और अपनी संस्कृति की रक्षा के हितार्थ कहीं वे साम्प्रदायिकता की शरण में न पहुँच जाएँ।

(६) सम्पत्ति का अधिकार

हमारे विधान के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया है कि “कानून के अतिरिक्त किसी अन्य रूप से किसी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जाएगा।” उसमें यह भी लिखा हुआ है कि “इस प्रकार अधिकृत अथवा प्राप्त की गई सम्पत्ति के सम्बन्ध में कानून द्वारा प्रतिफल का धन प्रस्तावित होना चाहिए।”

“विधान सभा के महान् धर्मज्ञ” जैसा कि के. सनथानम् ने लिखा है, “इस प्रकार के कानून की न्यायता की सीमा के सम्बन्ध में असन्दिग्ध एवं अनिश्चित थे। इस प्रकार की कोई निर्दिष्टता नहीं है कि निश्चित किया हुआ प्रतिफल का धन न्यायपूर्ण और पर्याप्त होना चाहिए।”

हमारे विधान निर्माताओं ने इसमें बड़ी वृद्धिमत्ता प्रकट की है कि 'उचित प्रतिफल', 'कानून की उचित प्रणाली' आदि शब्दावलि नहीं रखी हैं।

इन शब्दावलियों के सम्मिलन से अनेक न्याय की व्याख्याएँ और अनावश्यक मुकदमे उत्पन्न हो जाते। इस प्रकार हमारे विधान के अन्तर्गत न्यायालयों को यह निरीक्षण करने का अधिकार नहीं है कि किसी विशेष विषय में कोई प्रतिफल न्याय युक्त है अथवा नहीं, अथवा पर्याप्त है अथवा नहीं। प्रतिफल का निश्चय करना व्यवस्थापिका सभा का कार्य है और उसके सम्बन्ध में वह कुछ नियम भी प्रस्तावित कर सकती है।

विधान के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया है कि सम्पत्ति की अनिवार्य प्राप्ति के सम्बन्ध में राज्य का कोई व्यवस्थापक नियम उस समय तक लागू नहीं हो पाएगा जब तक कि उस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त न कर ली जाए। इस प्रकार की प्राप्य सम्पत्ति से सम्बन्धित प्रस्तावों पर जैसे कि उत्तर प्रदेश का ज़मींदारी उन्मूलन प्रस्ताव था—“जो विधान के लागू होने के समय तक एक राज्य की व्यवस्थापिका सभा में पड़े हुए थे” इसके पूर्व कि वह लागू किए जाएँ, राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक थी।

आलोचनात्मक निरीक्षण

सम्पत्ति के अधिकार तथा प्रतिफल सम्बन्धी धाराओं के सम्बन्ध में समाजवादी और साम्यवादी अनेक पक्षों से इसकी कठोर आलोचना की गई है। यह दल वैयक्तिक सम्पत्ति के पूर्णतः नष्ट करने के पक्ष में है। परन्तु हमारे विधान निर्माताओं ने विधान के जन्म के समय के वातावरण तथा भारतवर्ष के इस परिवर्तित युग को ध्यान में रखते हुए उन्होंने इस पराकाष्ठा पर पहुँचने वाले मार्ग को शक्ति एवं सन्देहपूर्ण समझ कर ग्रहण नहीं किया। परन्तु हमारे विधान में भी समाजवाद के क्रमिक विकास को पूर्णरूप से बहिष्कृत नहीं किया गया है। इसके विपरीत राज्य शासन विधि के निर्देशक सिद्धांतों के अध्याय के अन्तर्गत, स्वतन्त्र भारतवर्ष की नव-जन्मित राज्य शासन विधि में यह सिद्धांत इसीलिए प्रस्तावित किए गए हैं कि इनके द्वारा इस आदर्श की प्राप्ति की जा सके। हमारे विधान की यह धारा कि वैयक्तिक सम्पत्ति को हस्तगत करने पर उसका प्रतिफल प्रदान किया जाए, यही दिग्दर्शित करती है कि हमारे विधान निर्माता भी वैयक्तिक सम्पत्ति तथा ज़मींदारी और जागीरदारी जैसी प्राचीन प्रथाओं के अवशेषों को समाप्त करने के लिए इच्छुक हैं। श्री. एम. अनाथासयनम आर्यंगर का निम्नलिखित कथन अत्युक्ति पूर्ण नहीं है कि :—

“यहाँ लक्ष्य स्थिर किया गया है कि विधान समाजवादी प्रजातन्त्रात्मक गणतंत्र के रूप को ग्रहण करले। विश्व में प्रचलित दो विरोधी सिद्धांतों का यही एक

सार एवं तत्व है। (यह दो विरोधी सिद्धांत हैं) पश्चिम के पूँजीवादी प्रजातंत्र और रूस की समाजवादी तानाशाही।”^१

इस सत्य से विमुख नहीं हुआ जा सकता कि इस निश्चित लक्ष्य की ओर अग्रसर होना जैसा कि विधान की धाराओं में प्रस्तावित किया गया है दूरस्थ, ग्लान एवं परिश्रान्त होगा।

(७) वैधानिक उपचार का अधिकार

हमारे विधान द्वारा हमें केवल अधिकार प्रदान ही नहीं किए गए हैं, बल्कि उनकी सुरक्षा और उन्हें लागू करने की भी व्यवस्था की गई है। हमारे विधान की धारा ३२ में यह प्रतिपादित किया गया है कि कोई व्यक्ति अपने मौलिक अधिकारों को व्यावहारिक रूप में लागू और उनकी रक्षा के हेतु उचित प्रणाली द्वारा सर्वोच्च न्यायालय से प्रार्थना कर सकता है। इस सम्बन्ध में उचित एवं वैधानिक प्रणाली अथवा उपचार है, सरकार से यह प्रार्थना करना कि इस सम्बन्ध में कुछ अथवा आज्ञापत्र प्रदान किए जाएँ। इन आज्ञापत्रों का स्वरूप ‘हेबियस कॉर्पस’^२ (बन्दी प्रत्यक्षीकरण), ‘मेन्डेमस’^३ (परमादेश), निशेय,^४ ‘को वारन्टो’^५, (न्यायालय का चुनौतीपूर्ण अधिकार पत्र) और ‘सरटोरैरी’^६ (विशिष्ट न्यायालय का आज्ञापत्र)।

इन आज्ञापत्रों के क्षेत्र को भली प्रकार समझने के लिए इनका अर्थ तथा इनका व्यावहारिक रूप समझना अत्यन्त आवश्यक है। निम्नलिखित पृष्ठों में इसी को चेष्टा की गई है।

आज्ञापत्रों का अर्थ और क्षेत्र

(अ) बन्दी प्रत्यक्षीकरण

यह आज्ञापत्र एक ऐसे सर्वोच्च सत्ताधारी अथवा पदाधिकारी द्वारा प्रदान किया हुआ होता है कि कोई व्यक्ति अथवा कोई अन्य अधिकारी इसके विरोध में नहीं ठहर सकता। कार्यकारिणी अथवा शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित किसी पदा-

1. “The constitution is intended to usher in a Socialist Democratic Republic. This is the essence of the two conflicting ideologies prevailing in the world—the capitalist democracies of the west and the Socialist dictatorship of Russia.” Sri. M. Anathasayanam Ayyanger.

2. Habeas Corpus.

3. Mandamus.

4. Prohibition.

5. Quo-warranto.

6. Certiorari.

धिकारी द्वारा अनुचित एवं गैर कानूनी रूप से बन्दी बनाए जाने तथा कारावास में रखने के विरुद्ध यह वैधानिक उपचार प्रस्तुत किया गया है। यह आज्ञापत्र उस व्यक्ति को प्रदान किया जाता है जिसने किसी अन्य व्यक्ति को गैर कानूनी रूप से बन्दी बना लिया हो अथवा उसे कारावास में बन्द कर रखा हो। इसके द्वारा उसे यह आज्ञा प्रदान की जाती है कि वह तुरन्त ही उस व्यक्ति को आज्ञापत्र प्रदान करने वाले न्यायाधीश अथवा न्यायालय के सम्मुख उसके बन्दी बनाए जाने के कारणों सहित उपस्थित करे, और इस सम्बन्ध में न्यायाधीश अथवा न्यायालय जो भी कुछ निर्णय करे, उसे स्वीकार करे। संक्षेप में, यह आज्ञापत्र उन व्यक्तियों को मुक्त कराने के हितार्थ प्रस्तावित किया जाता है जिन्हें अनुचित एवं गैर कानूनी रूप से बन्दी बना लिया गया हो, चाहे इस प्रकार के विषय का स्वरूप दीवानी हो अथवा फौजदारी।

(ब) परमादेश

परमादेश के उच्च आज्ञापत्र तथा आदेश के रूप में किसी व्यक्ति, संस्था अथवा न्यायालय को प्रदान किया जाता है कि वह व्यक्ति, संस्था अथवा न्यायालय जन-कर्त्तव्य के नाते कुछ विशेष कार्यों का सम्पादन करे। परमादेश उस समय प्रदान किया जाता है जब पदाधिकारीगण जनता के प्रति अपने कर्त्तव्य को निभाने में असफल होते हैं और इस प्रकार के आज्ञापत्र के प्रदान करने के पश्चात् इन पदाधिकारियों को उस विस्तृत कार्य के सम्पादन को फिर से अपने हाथ में लेना पड़ता है।

(स) निषेध

निषेध का आज्ञापत्र सर्वोच्च न्यायालय अथवा किसी हाई कोर्ट द्वारा किसी निम्न न्यायालय को प्रदान किया जाता है कि किसी विशेष विषय के सम्बन्ध में वह कार्यक्रम को स्थगित करदे, क्योंकि वह विषय उसके अधिकार-क्षेत्र की सीमा से बाहर का है अथवा देश के कानून के ही विरुद्ध है।

(द) न्यायालय का चुनौतीपूर्ण अधिकार पत्र

इस आज्ञापत्र के प्रदान करने का उद्देश्य होता है किसी विशेष पद पर आसीन व्यक्ति को उसी पद पर स्थित रहने की आज्ञा प्रदान करना। इसके द्वारा उससे यह पूछा जाता है किस अधिकारी द्वारा वह उस पद पर आसीन है। इस आज्ञापत्र का प्रदान करना प्रार्थी के अधिकार की पूर्ति के रूप में न होकर न्यायालय के विवेक पर निर्भर है, अर्थात् यह आज्ञापत्र प्रदान करना अथवा न करना न्यायालय पर निर्भर है—चाहे इसे प्रदान करने के लिए जिन परिस्थितियों की आवश्यकता होती है वे सब पूरी क्यों न हो जाएँ।

(क) विशिष्ट न्यायालय का आज्ञापत्र

यह एक प्रकार का विशेष आज्ञापत्र है जिसे कोई श्रेष्ठ अथवा विशिष्ट न्यायालय किसी निम्न न्यायालय को प्रदान करता है कि वह निम्न न्यायालय किसी

विशेष विषय को जिसका मुकदमा उनके यहाँ चल रहा हो—उस श्रेष्ठ न्यायालय में भेज दे। श्रेष्ठ न्यायालय को यह आज्ञा पत्र प्रदान करने के अधिकार का उद्देश्य यही है कि इस प्रकार के आज्ञापत्र द्वारा निम्न न्यायालयों का कार्य सुगम एवं वैधानिक रूप से सम्पादित होता रहे।

यह लिखा जा चुका है कि मौलिक अधिकारों को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के हेतु सर्वोच्च न्यायालय को आदेश अथवा आज्ञापत्र प्रदान करने का अधिकार है। विभिन्न हाईकोर्ट को भी यह अधिकार प्राप्त है। यह भी प्रस्तावित किया गया है कि सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों को हानि न पहुँचाते हुए, संसद को यह अधिकार है कि वह कानून द्वारा किसी निम्न न्यायालय को यह अधिकार प्रदान करदे कि मौलिक अधिकारों को व्यावहारिक रूप प्रदान कराने के सम्बन्ध में वह अपनी स्थानीय सीमा में सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों का प्रयोग कर सकता है। इस धारा की प्रशंसा में श्री० जी० एन० जोशी ने उचित ही लिखा है कि :—

“यह धारा अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि भारतवर्ष एक विशाल देश है, और यह सम्भव है कि भारतवर्ष के किसी एक भाग में व्यक्तियों के अधिकारों पर आघात किया जाए अथवा उनका अपहरण किया जाए; ऐसी परिस्थिति में नागरिकों के लिए यह अत्यन्त कठिन होगा कि इस सम्बन्ध में कुछ आदेश अथवा आज्ञापत्र प्रदान करने के लिए वे सर्वोच्च न्यायालय अथवा हाईकोर्ट से भी प्रार्थना करें।”

यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि इन उपचारों के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि वह किसी न्यायालय में किसी कानून का विरोध कर सकता है—इस आधार पर कि वह कानून विधान के विरुद्ध है।

सर्वोच्च न्यायालय से प्रार्थना के अधिकार का निरोध

सामान्य एवं साधारण परिस्थितियों में अपने मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में जनता के सर्वोच्च न्यायालय से प्रार्थना करने के अधिकार का निरोध नहीं हो सकेगा। परन्तु असाधारण परिस्थितियों में यह सम्भव है। विधान में यह प्रस्तावित किया गया है कि यदि राष्ट्रपति को यह अनुभव हो कि युद्ध, अथवा बाह्य आक्रमण अथवा अन्तर्देशीय अशान्ति के कारण कुछ असाधारण परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं और इनसे भारतवर्ष अथवा उसके किसी भाग की शान्ति एवं सुरक्षा के भंग होने का भय है, तो वह संकटकालीन अवस्था की घोषणा कर सकता है। इस प्रकार की घोषणा युद्ध अथवा बाह्य आक्रमण अथवा अन्तर्देशीय अशान्ति के स्पष्ट रूप से प्रकट होने के पूर्व ही की जा सकती है। इस प्रकार की घोषणा के कार्यरूप में परिणत होने पर राष्ट्रपति इस बात का आदेश प्रदान कर सकता है कि आदेश के अन्तर्गत स्पष्ट किए गए मौलिक अधिकारों की रक्षा के सम्बन्ध में कोई व्यक्ति किसी न्यायालय से प्रार्थना नहीं

कर सकेगा, तथा उन अधिकारों से सम्बन्धित चल रहे विषयों को उतने काल के लिए स्थगित कर दिया जाए जब तक कि वह घोषणा प्रचलित रहे अथवा उतने समय तक के लिए जितने समय का निर्देश उस आदेश में किया गया हो। असाधारण परिस्थितियों से सम्बन्धित घोषणा दो मास की अवधि के पश्चात् समाप्त मानी जायगी यदि उस अवधि के समाप्त होने के पूर्व संसद के दोनों भवन एक प्रस्ताव पास कर उसे स्वीकृत न कर दें। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैधानिक उपचार के अधिकार को राष्ट्रपति दो मास के लिए स्थगित कर सकता है, परन्तु संसद द्वारा स्वीकृत होने पर उसे और अधिक समय के लिए स्थगित किया जा सकता है।

आलोचनात्मक पुनर्निरीक्षण

अन्त में यहाँ यह लिखना अनुपयुक्त न होगा कि कुछ विद्वानों का विचार है कि विधान को मौलिक अधिकारों की केवल घोषणा ही करनी चाहिए थी, उन्हें प्रदान नहीं करना चाहिए था। उनका मत है कि मौलिक अधिकार व्यक्ति के बीजभूत एवं मौलिक तथा अविच्छेद अधिकार हैं जो उसके स्वयं के हैं, इसलिए उनको जन्म प्रदान न कर उन्हें केवल स्वीकार ही किया जा सकता है। यदि यही मत प्रतिपादित किया जाए कि जब तक एक व्यक्ति को अधिकार प्रदान न किए जाएँ तब तक वह उनका भोग कैसे कर सकता है, तो प्रदान करने के क्षण से ही उन अधिकारों की मौलिकता नष्ट हो जाती है। अपने तर्क की पुष्टि में आलोचकों का यह कथन है कि अंगरेज जाति विश्व में सबसे अधिक स्वतन्त्रता और अधिकारों का भोग करती है, यद्यपि उनका विधान अलिखित है और उन्हें यह अधिकार प्रदान भी नहीं किए गए हैं। उनका कथन है कि विधान द्वारा अधिकारों का प्रदान किया जाना ही इस बात को भी दिग्दर्शित करता है कि प्रदान किए जाने के समान ही एक संशोधन द्वारा उन्हें छीन भी लिया जा सकता है, जो हमारे संविधान के अन्तर्गत कुछ अधिक कठिन नहीं।

इन तर्कों की दृढ़ता और सत्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता। परन्तु यह भी निश्चित है कि मौलिक अधिकारों को प्रदान किए जाने से जो लाभ हैं वे उसकी हानि से कहीं अधिक हैं। यह कथन निम्नलिखित से भली भाँति स्पष्ट हो जाएगा :

प्रथम, हमारे विधान में प्रस्तावित मौलिक अधिकारों का अध्याय हमारे देश में प्रजातन्त्र को वास्तविक और यथार्थ रूप प्रदान करता है। अधिकारों के प्रदान किये जाने से व्यक्ति का व्यक्तित्व सुप्रतिष्ठित हो जाता है और राज्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उसकी सेवा और रक्षा करे। हमारे नवजन्मित प्रजातन्त्रात्मक गणतन्त्र के सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों स्वरूपों में प्रजातन्त्र के देवाधिदेव जनता को एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। इसके द्वारा राज्य एक साधन तथा व्यक्ति एक लक्ष्य के रूप प्रतिष्ठापित होता है। इसका उद्देश्य है सब के हित की प्राप्ति।

द्वितीय, मौलिक अधिकारों की धारा का उद्देश्य व्यक्ति को बहुमत दल की निरंकुशता और अत्याचारों से बचाना भी है। यह सम्भव है कि प्रजातन्त्र और राजतन्त्र में कोई समानता न हो, परन्तु उनमें एक समानता अवश्य है, और वह है अत्याचार एवं निरंकुशता का भय। एक राजतन्त्र के अन्तर्गत जनता राजा के अत्याचार और अनाचार से सशंकित रहती है। एक प्रजातन्त्र के अन्तर्गत बहुमत दल के अत्याचार और अनाचार का भय रहता है जो जनता की आकांक्षाओं, अधिकार और स्वतन्त्रता को कुचल सकता है क्योंकि व्यवस्थापिका सभा में उसे अपने बहुमत और अपनी शक्ति का विश्वास रहता है। परिणामस्वरूप प्रजातन्त्र के सन्मुख यही एक समस्या है कि बहुमत दल के अत्याचार और क्रूर व्यवहार से अल्पदलों की रक्षा किस प्रकार की जाय। इसलिए विधान में अधिकारों का प्रस्तावित करना और भी आवश्यक हो गया है जिससे कि अनित्य एवं अस्थिर बहुमत दल व्यवस्थापन की सामान्य प्रणाली द्वारा जनता के अधिकारों के साथ खिलवाड़ न कर सकें। इस प्रकार इन अधिकारों का सम्मिलन बहुमत दल के सम्भावित अत्याचार एवं अनाचार को जकड़ने के हेतु शृङ्खला के रूप में है। अन्त में, हमारे विधान में मौलिक अधिकारों का सम्मिलन इस विधान को स्वतन्त्रता के अधिकार पत्र का स्वरूप ग्रहण करा देता है। भारतवर्ष में इसकी और भी अधिक आवश्यकता थी, क्योंकि युगों की दासता ने भारतवासियों की प्रवृत्ति को भी दासता से पूर्ण बना दिया था। एक स्वतन्त्र देश के नागरिक के समान उन्हें अपने अधिकारों के भावपूर्ण एवं स्वर्णिम अन्तरिक्ष की ओर उन्मुख करने तथा अपने अधिकारों के प्रति उत्साहित करने के लिए यह आवश्यक था कि इन अधिकारों को विधान में स्थान प्रदान किया जाता। वास्तव में गुलाम भारतवर्ष और स्वतन्त्र भारतवर्ष के विधानों में जो अन्तर—मौलिक अन्तर—है वह यह है कि वे विधान हमारी दासता के आज्ञापत्र थे, और इसके विपरीत यह हमारे स्वराज्य का अधिकार पत्र है, हमारे अधिकार और हमारी स्वतन्त्रता का द्योतक है।

चौथा अध्याय

राज्यनीति के निर्देशक सिद्धान्त

“निर्देशक सिद्धान्त इस प्रकार के निश्चित एवं अनन्त सिद्धान्त नहीं हैं जो विभिन्न देशों और विभिन्न युगों में परिवर्तित नहीं होते । ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि इन सिद्धान्तों को विधान में मूर्खों और श्रद्धालुओं को तुच्छ सन्तुष्टि प्रदान करने के लिए ही स्थान प्रदान किया गया है । क्या यह कहा जा सकता है कि तालिका में समस्त कालों के लिए उपयुक्त समस्त निर्देशक सिद्धान्त दे दिए गए हैं, अथवा समस्त सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टिकोण से असंदिग्ध रूप से निश्चित और उचित एवं युक्त हैं ?”¹

—श्री. एन. आर. राघवचारी.

भारतवर्ष के नवीन विधान में राज्य का स्वरूप हितैषी रखा गया है जिससे यह आशा की गई है कि वह जननी के समान बिना किसी भेद भाव के अपनी समस्त प्रजा के हित का ध्यान रखेगा । राज्य शासन विधि के इस स्वरूप पर अधिक बल डालने के लिए विधान में राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्त के रूप में कुछ आदेश प्रस्तावित किए गए हैं । इनका उद्देश्य है हमारे प्रजातन्त्र रूपी शिशु की शक्ति को राष्ट्रीय और उन्नतिशील स्रोत को ओर उन्मुख करना । निर्देशक सिद्धान्तों का उल्लेख हमारे विधान की एक प्रमुख विशेषता है । इसकी समानता केवल स्वतन्त्र आयरलैंड के विधान में पाई जाती है ।

निर्देशक सिद्धान्तों का अर्थ और स्वरूप

भारतीय विधान में राज्यनीति के निर्देशक सिद्धान्तों का जो उल्लेख है, वह भारतीय राज्य के सम्मुख कुछ आदर्शों को रखता है । इन आदर्शों का सम्बन्ध भारतीय

1. “Directive principles are not such settled and eternal principles which do not change from country to country or from age to age. It almost reads as if the directive principles are embodied in the constitution just to give cheap satisfaction to the gullible and the credulous. Can it be said that the list includes all the directive principles for all time or that all the principles are unquestionably sound and sensible from the practical point of view ?”

—Sri. N. R. Raghavachari.

जनता के सामाजिक, आर्थिक और नैतिक हित से है, जिसकी आज महान आवश्यकता है। इस प्रकार राज्य नीति के आदर्श के रूप में इन निर्देशक सिद्धान्तों में भारत-वर्ष की वास्तविक आवश्यकताएँ सन्निहित हैं। यहाँ यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इन आदर्शों का स्वरूप ऐसा है कि प्रत्येक स्थान पर यही एक वास्तविक प्रजातंत्र का सार एवं तत्त्व का स्वरूप ग्रहण करते हैं।

निर्देशक सिद्धान्त और मौलिक अधिकार

निर्देशक सिद्धान्तों को मौलिक अधिकारों के दृढ़ एवं निश्चित पुनःस्थापन के हेतु ही जन्म दिया गया है। इन सिद्धान्तों का उद्देश्य है जितना शीघ्र हो सके नागरिकों के प्रत्यक्ष जीवन में मौलिक अधिकारों के सार एवं तत्त्व को अपनी राष्ट्रीय सरकार द्वारा प्रयोग में लाना। हमारे स्वातन्त्र्य लेख की भूमिका और विधान में दिए गए मौलिक अधिकारों के अध्याय में जनता के स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व और न्याय के अधिकारों को स्वीकार किया गया है। राज्यनीति के निर्देशक सिद्धान्त इस कार्य को राज्य के नैतिक कर्तव्य का स्वरूप प्रदान करते हैं कि एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जाए जिससे कि जीवन के समस्त क्षेत्रों में—सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक—समानता, स्वतन्त्रता और न्याय की प्राप्ति सम्भव हो सके। “यदि मौलिक अधिकारों का अध्याय एक लक्ष्य का दिग्दर्शन कराता है तो निर्देशक सिद्धान्तों का अध्याय साधनों का अध्ययन है। यदि एक उत्तम जीवन का दर्शन शास्त्र है तो दूसरा उसका व्यावहारिक स्वरूप है।”¹

निर्देशक सिद्धान्तों का क्षेत्र

निर्देशक सिद्धान्तों का उद्देश्य संघीय सरकार तथा प्रांतीय सरकारों की नीति तथा ग्राम पंचायतों, म्युनिसिपल और जिला बोर्ड आदि के कार्यों पर नियन्त्रण रखना है।

इस भाग की आरम्भिक धारा में ‘राज्य’ शब्द के दो अर्थ प्रतिपादित किए गए हैं। सामूहिक रूप में इसका अर्थ केन्द्रीय सरकार और केन्द्रीय संसद तथा प्रत्येक प्रांत की सरकार और व्यवस्थापिका सभाएँ हैं। और इससे अधिक व्यापक क्षेत्र में इसका अर्थ ग्राम पंचायत, जिला और म्युनिसिपल बोर्ड तथा अन्य स्थानीय संस्थाएँ भी हैं।

इस प्रकार निर्देशक सिद्धान्त इस बात पर बल देते हैं कि समस्त भारतवर्ष को, जिसमें संघ, प्रांत और स्थानीय संस्थाएँ सम्मिलित हैं, प्रजा के हित के लिए

1. “The chapter on Fundamental Rights is an exposition of ends, the chapter on Directives a study of means. If one is philosophy of good life, the other is its practice.”

सतत प्रयत्न करना है। यदि कोई संस्था स्वतन्त्र भारत में अपना अस्तित्व स्थिर रखना चाहती है तो उसे सेवा कार्य करना चाहिए। यही वह आदर्श है जिसे निर्देशक सिद्धांत हमारे सन्मुख रखते हैं।

निर्देशक सिद्धान्तों का प्रचलन

आरम्भ में ही हमारे विधान की धारा ३७ द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि निर्देशक सिद्धांत यद्यपि देश के शासन में मौलिक भाग लेते हैं, भारतवर्ष में किसी न्यायालय द्वारा लागू नहीं किए जाएंगे। सरकार का निर्माण करने वाले जनता के प्रतिनिधियों का यह नैतिक कर्तव्य है कि वे निर्देशक सिद्धांतों के अन्तर्गत निश्चित सद्आचरण के नियमों का पालन करें।

निर्देशक सिद्धान्तों का निरीक्षण

धारा ३८ में निर्देशक सिद्धांतों के महत्व को बड़े व्यापक रूप में निम्नलिखित शब्दों में दर्शाया गया है :—

“राज्य, अधिक से अधिक प्रभावपूर्ण रूप में एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना और सुरक्षा द्वारा, जिसमें आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक न्याय की प्राप्ति हो, जनता के हित के विकास का प्रयत्न करेगा, और राष्ट्रीय जीवन की प्रत्येक संस्था को इस सम्बन्ध में सूचित करेगा।”

इस प्रकार निर्देशक सिद्धांतों का लक्ष्य राज्य के कार्यों द्वारा जनता के हित की प्राप्ति करना है। इनका उद्देश्य भारतवर्ष में प्रत्येक प्रकार का प्रजातन्त्र—राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक—स्थापित करना है, अनुमानतः “एक व्यक्ति, समान महत्व” के सिद्धांत पर।^१

विधान में प्रस्तावित राज्यनीति के निर्देशक सिद्धांतों का विवेचन निम्नलिखित शीर्षक के अन्तर्गत किया जा सकता है :

(अ) आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी राजनैतिक सिद्धान्त

हमारे विधान निर्माताओं ने विधान में प्रजातन्त्रात्मक आर्थिक व्यवस्था को विशेष रूप से स्थान दिया है। यह वर्तमान काल के समाजवादी दृष्टिकोण के अनुकूल है। विधान की ३६, ४१, ४२, ४३, ४६, ४७ और ४८ वीं धाराओं द्वारा भारतीय जनता के आर्थिक हित की रक्षा के लिए पग बढ़ाया गया है। समान हित के हेतु उनमें निम्नलिखित की ओर विशेष ध्यान दिया गया है :

“(१) जीवनयापन के समुचित साधन; (२) जनता के भौतिक साधनों के स्वामित्व का निष्पक्ष वितरण और नियंत्रण; (३) धन और उत्पादन के साधनों के ऐसे

1. The principle of ‘one man, one value.’

केन्द्रीकरण को रोकना जो समान हित के लिए घातक हों; (४) स्त्री और पुरुषों के समान कार्य के लिए समान वेतन; (५) स्त्री, पुरुष और और बालकों को उनकी आयु के अयोग्य कार्यों को करने से रोक कर उनके स्वास्थ्य और शक्ति की रक्षा करना; (६) नौकरी; (७) बेकारी, वृद्धावस्था, बीमारी और अपाहिज आदि की अवस्था में जन-सहायता प्रदान करना; (८) जीवन का एक स्तर प्राप्त करने के लिए उचित वेतन प्रदान करना; (९) घरेलू उद्योग-धन्धों की उन्नति; (१०) अछूतों के शैक्षिक, सामाजिक और आर्थिक हित की उन्नति; (११) गौ-हत्या पर प्रतिबंध लगाना तथा वैज्ञानिक आधारों पर पशुशालाएँ खुलवाकर पशुपालन करना ।”

(ब) सामाजिक हित सम्बन्धी निर्देशक सिद्धान्त

आर्थिक हित की उपर्युक्त धाराओं के अतिरिक्त निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत राज्य सामाजिक हित की स्थापना का प्रयत्न भी करेगा ।

इस सम्बन्ध में निर्देशक सिद्धान्त निम्नलिखित से सम्बन्धित हैं :

(१) आहार आदि के स्तर को उठाना तथा जनस्वास्थ्य की उन्नति के लिए जीवन के स्तर को बढ़ाना;

(२) शिशु जन्म तथा शिशु पालन की सुविधाएँ; और

(३) औषधि में प्रयोग किए जाने के अतिरिक्त मदिरा तथा अन्य मादक द्रव्यों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध ।

(स) न्याय, शिक्षा और प्रजातन्त्र सम्बन्धी निर्देशक सिद्धान्त

भारतवर्ष की जनता में न्याय की प्राप्ति, शिक्षा के प्रचार और प्रसार और प्रजातन्त्र की भावना के विकास के लिए भी निर्देशक सिद्धान्तों में कुछ धाराएँ प्रस्तावित की गई हैं ।

न्याय की प्राप्ति के लिए निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया है कि समस्त नागरिकों के लिए समान कानून होना चाहिए । कार्यकारिणी और न्यायव्यवस्था के पृथक्करण पर भी बल दिया गया है ।

शिक्षा के प्रगतिशील प्रसार के लिए निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत धारा ४५ में यह प्रस्तावित किया गया है कि, “इस विधान के लागू होने के दस वर्ष के समय में राज्य चौदह वर्ष तक के बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का प्रयत्न करेगा ।”

प्रजातन्त्र की भावना के विकास के हेतु निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया है कि स्वराज्य की इकाई के रूप में ग्राम पंचायतों का संगठन किया जाए । एकट की धारा ४० में यह प्रतिपादित किया गया है कि “राज्य ग्राम-

पंचायतों के संगठन की ओर कदम उठाएगा, और उन्हें इतने अधिकार प्रदान किए जाएंगे, जिनके द्वारा वे स्वराज्य की सहायक इकाई के रूप में कार्य कर सकें।”

(द) प्राचीन स्मारकों की रक्षा सम्बन्धी निर्देशक सिद्धान्त

निर्देशक सिद्धांतों के अन्तर्गत प्राचीन स्मारकों, भवनों तथा ऐतिहासिक और राष्ट्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों की रक्षा और स्थायित्व की ओर भी ध्यान दिया जाना प्रस्तावित किया गया है। इस सम्बन्ध में विधान की धारा ४६ उल्लेखनीय है :

“कलात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रत्येक स्मारक तथा भवन और संसद द्वारा घोषित राष्ट्रीय महत्त्व के स्थानों के नष्ट होने, कुरूप होने, क्रय अथवा हटाए जाने से रक्षा करना राज्य का कर्तव्य होगा।”

(क) अन्तर्राष्ट्रीयता सम्बन्धी निर्देशक सिद्धांत

निर्देशक सिद्धांतों के अध्याय की एक और महत्वपूर्ण धारा निम्न प्रकार से है :

“५१. राज्य इस बात का प्रयत्न करेगा कि :

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा का विकास हो;

(२) राष्ट्रों में न्यायपूर्ण तथा आदरणीय सम्बंधों की स्थापना हो;

(३) अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा संगठित राष्ट्रों की संधि आदि के प्रति आदर की भावना का विकास हो;

(४) अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के निर्णय के लिए समझौते की भावना का उदय हो।”

इस धारा का कुछ मौलिक महत्त्व भी है। यह धारा देश के उच्च आदर्शों, शांति के हेतु उसकी श्रद्धा और युद्ध के प्रति उसकी घृणा के अनुकूल तथा समानान्तर है। यह बात अत्यंत महत्वपूर्ण है कि अन्तर्राष्ट्रीय सद्-दृष्टि और विश्व शांति के सिद्धांत हमारे विधान में ही सन्निहित हैं। इस प्रकार भारतवर्ष सदैव ही राज्य विस्तार की लिप्सा और साम्राज्यशाही से घृणा करता रहेगा। इसी प्रकार वह विश्व को शांति के पथ पर अग्रगण्य के रूप में अग्रसर करता रहेगा।

निर्देशक सिद्धान्तों की आलोचना

हमारे विधान में प्रस्तावित राज्यनीति के निर्देशक सिद्धांतों की निम्नलिखित आधारों पर बड़ी कड़ी आलोचना की गई है :—

(१) एक सर्वोच्च सत्ताधारी राष्ट्र का स्वयं के लिए इन सिद्धांतों का नियत करना अत्यन्त अस्वाभाविक तथा हास्यास्पद प्रतीत होता है। यह सम्भव है कि कोई उच्च सत्ता अपनी आधीन सत्ता को इन सिद्धांतों का निर्देश करे तथा उनकी नीति निर्धारित करे परंतु यह अत्यंत ही अप्राकृतिक है कि एक सत्ताधारी राज्य स्वयं के लिए

इस प्रकार के सिद्धांत नियत करे क्योंकि इससे उसी के अधिकार सीमित हो जाएंगे और उनके प्रयोग में बाधा उपस्थित होगी ।

परन्तु आलोचकगण इस स्थान पर यह विस्मरण कर जाते हैं कि निर्देशक सिद्धांत किसी प्रकार के आदेश अथवा आज्ञा नहीं हैं; और इसलिए इनके द्वारा राष्ट्रीय राज्य सत्ता को कोई हानि पहुँचना असम्भव है। इनके प्रयोग के लिए राज्य कानून द्वारा बाध्य नहीं है। यदि राज्य इन सिद्धांतों का पालन नहीं करता तो कोई न्यायालय इसके लिए उसे विवश नहीं कर सकता। इस प्रकार इन निर्देशक सिद्धांतों की उपस्थिति में भी राज्य अपने शासनाधिकारों के प्रयोग के लिए स्वतंत्र है।

(२) निर्देशक सिद्धांतों के अध्याय का तात्पर्य यही है कि इसमें कुछ इस प्रकार के सिद्धान्त निहित हैं जो निश्चित हैं तथा जो किसी एक समय के न होकर अनन्तकालीन हैं, और प्रिभिन्न कालों में जिनमें परिवर्तन की सम्भावना नहीं। परन्तु काल चक्र की परिवर्तित होने वाली गति में प्रत्येक सिद्धांत अथवा आदेश सदा ही लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकते। आज वे लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं परन्तु कल के लिए तो कुछ नहीं कहा जा सकता। निर्देशक सिद्धांतों के अध्याय में मानव प्रकृति के प्रगतिशील विकास और उसकी आवश्यकताओं, भावनाओं और आदर्शों के विकास के लिए कोई स्थान नहीं। इसके अतिरिक्त निर्देशक सिद्धांतों के रूप में जो सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं व्यावहारिक दृष्टिकोण से वे असंदिग्ध रूप से निश्चित एवं लाभदायक नहीं कहे जा सकते। उदाहरणस्वरूप मादक द्रव्यों के विरोध से सम्बन्धित निर्देशक सिद्धांत केवल एक अगोचर दुर्गुण ही है। इस अनिश्चित एवं संदिग्ध प्रयोग द्वारा जिस आय को हानि हुई है उसका प्रयोग जनहित के अन्य महत्वपूर्ण तथा आवश्यक कार्यों के सम्पादन में किया जा सकता था। निर्देशक सिद्धांतों द्वारा प्रस्तावित मादक द्रव्यों के निषेध की नीति अधिक से अधिक एक अतिव्यथी असफलता के नाम से पुकारी जा सकती है; जिसके द्वारा एक ओर तो सरकार एक विशाल आय से वंचित हो जायगी और दूसरी ओर अवैध रूप से मादक द्रव्यों के क्रय-विक्रय के अभियोगों तथा इन द्रव्यों के कानून विरुद्ध आदान प्रदान में वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि सरकार मदिरा आदि अन्य मादक द्रव्यों पर इतना अधिक कर लगा देती कि धनिकों के अतिरिक्त और कोई उसका प्रयोग ही नहीं कर पाता तो सरकार के दोनों उद्देश्य पूर्ण हो सकते थे। वर्तमान परिस्थिति में मादक द्रव्यों के निषेध से आय में जो हानि हुई है वह न हो पाती। सरकार का द्वितीय उद्देश्य यह था कि श्रमिक वर्ग के व्यक्ति इन मादक द्रव्यों का प्रयोग न कर पाएँ। कर में वृद्धि करने पर इन श्रमिकों को कदाचित् इन मादक द्रव्यों की सुगंध से भी वंचित हो जाना पड़ता। इस प्रकार इस आलोचना का सारांश श्री० एन० आर० राघवाचारी के निम्नलिखित शब्दों में उद्धृत किया जा सकता है :

“इसलिए इन सिद्धांतों को व्यवहारिक राजनीति के स्थान पर राजनैतिक दर्शन की विशेषता ही प्रदान करनी पड़ती है, और व्यर्थ परन्तु वैभवपूर्ण शब्दावली में जड़ी हुई उच्चतम कल्पनाओं एवं भावनाओं की पंक्ति के अतिरिक्त, एक वैधानिक आलोचक अथवा एक आलोचनात्मक वैधानिक की दृष्टि में इनका महत्व न्यून अथवा कुछ भी नहीं।”^१

उपर्युक्त आलोचना में सत्य और महत्व का यथेष्ट ग्रंथ है। परन्तु निर्देशक सिद्धांत इतने व्यर्थ और निष्फल नहीं जितना कि उपर्युक्त दृष्टिकोण वाले आलोचक-गण का विचार है। ‘निर्देशक सिद्धांतों के पक्ष में’ शीर्षक के अंतर्गत यह कथन भली भाँति स्पष्ट होजाएगा।

(३) कुछ आलोचकों का यह भी कहना है निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर में कुछ विनीत आकांक्षाओं और झूठे सपनों के अतिरिक्त और कुछ नहीं। उदाहरण-स्वरूप जैसा कि सेम्पसन ने लिखा है :

“जो लक्ष्य निश्चित किए गए हैं उनमें से कुछ का तो सम्भावित कार्यक्रम की वास्तविकता से अत्यन्त न्यून सम्बन्ध है। उदाहरणस्वरूप विवेकहीन आशावादी को भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अपनी जनता को वैभव और आनन्द तथा सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से परिपूर्ण जीवन के उच्च स्तर का आश्वासन प्रदान करने को आशा से पूर्व भारतवर्ष को बड़ा कठिन मार्ग पूरा करना होगा।”^२

आलोचक महोदय यहाँ यह विस्मरण कर गए कि केवल एक आदर्श ही एक अन्य आदर्श की प्राप्ति के लिए उत्साहित कर सकता है। आलोचक महोदय से यह प्रश्न किया जा सकता है कि, “क्या उन व्यक्तियों ने कभी उन्नति की है जो एक आदर्श की चुनौती से डर गए हैं ?” यह नग्न सत्य है कि प्रत्येक राजनैतिक समाज अथवा संस्था अपनी उन्नति के हितार्थ एक आदर्श की प्राप्ति का उद्देश्य स्थिर कर लेती है,

1. “One is, therefore, disposed to characterise these principles as more political philosophy than practical politics and except as a parade of high sounding sentiments couched in vain-glorious verbiage, they have little or no appeal to a constitutional critic or a critical constitutionalist.”
Sri. N. R. Raghavachari.

2. “Some of the goals enumerated bear little relation to the realities of possible achievement. The most abandoned optimist would have to admit that India has a long and hard road to travel before she can, for example, hope to ensure for her people a decent standard of life with full enjoyment of leisure and social and cultural opportunities.”
Mr. Sampson.

जिसके लिए उसे अत्यन्त उत्साह के साथ कार्य और चेष्टा करनी चाहिए। मानव की आकाँक्षाओं और आदर्शों का अंतरिक्ष जितना अधिक स्वप्निल और आकर्षक होगा और उसकी प्राप्ति जितनी अधिक दुरुह होगी, उसे प्राप्त करने के लिए उतना ही अधिक उत्साह तथा उतनी ही अधिक लालसा एवं प्रेरणा भी होगी। निर्देशक सिद्धान्तों के अध्याय में आदर्शों की निहित भारतीय राज्य को उन्नति एवं प्रगति के पथ पर अग्रसर करने वाला एक शुभ एवं कल्याणकारी साधन है।

(४) इसके अतिरिक्त कुछ आलोचकों का कथन है कि निर्देशक सिद्धान्तों के अध्याय में जिन धाराओं को स्थान प्रदान किया गया है, उनके सम्बंध में न्यायालय को यह अधिकार होना चाहिए था कि वह उन्हें लागू कर सके। यदि ऐसा न होगा तो उनको स्थान प्रदान करने का अर्थ ही क्या हो सकता है? इनको लागू करने की अपेक्षा अधिकतर इन पर ध्यान ही नहीं दिया जायगा।

इस स्थान पर आलोचकगण यह विस्मरण कर जाते हैं कि हमारे विधान-निर्माता इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं थे कि राज्य की नीति को निर्धारित करने में समय और वातावरण जैसी संचालक शक्तियों का भी यथेष्ट हाथ रहता है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि किसी सरकार का संचालन कानूनी आधारों की अपेक्षा विश्वास द्वारा अधिक होता है। उनका लक्ष्य ही यह था कि उस समय भारतवर्ष में प्रचलित हो रहे उन आदर्शों को साकार रूप प्रदान किया जाए, जिनकी आवश्यकता समय और परिस्थिति को देखते हुए थी। निर्देशक सिद्धान्त जनता के प्रतिनिधियों को इस बात का ध्यान दिलाने के लिए रखे गए थे कि स्वयं उनकी और देशवासियों की आशाएँ, आकाँक्षाएँ और आवश्यकताएँ क्या हैं। जनता के हितों के रक्षक और संरक्षक तथा राष्ट्र के सेवक के रूप में सरकार से यह आशा की जाती है कि वह अपनी यथार्थ एवं निष्पक्ष चेष्टाओं द्वारा इन आदर्शों को पूर्ण करने का प्रयत्न करे। इनका लक्ष्य यह नहीं है कि भविष्य में होने वाले भारतवर्ष के शासकों के हाथ पैर जकड़ दिए जाएँ; इसके विपरीत इनका उद्देश्य यही है कि अग्रसर होने के लिए उनका पथ प्रदर्शन किया जाए तथा उनको उत्साहित किया जाए।

(५) कुछ विचारकों का यह भी मत है कि निर्देशक सिद्धान्तों का रखना ही व्यर्थ है क्योंकि इनके अन्तर्गत जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं वे आधुनिक प्रजातन्त्र राज्य की नीति में उपलब्ध होते हैं, जो अपने 'नागरिकों को उत्तम जीवन'^१ प्रदान करने के लिए ही स्थित है।

वास्तव में यह आलोचना निर्देशक सिद्धान्तों के विरुद्ध होने की अपेक्षा उनके पक्ष में अधिक है। यदि निर्देशक सिद्धान्तों का कार्यक्रम भी वही हो, और उनका वह

^१ अरस्तू

कार्यक्रम है, जो आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक राज्य के जीवन में ही उपलब्धित होता हो, तब उस दशा में वे किसी अन्य बात का भार नहीं लादते, बल्कि प्रजातन्त्र के तत्त्व एवं सार को ही स्पष्ट करते हैं, और इस प्रकार वास्तव में वे उस प्रजातन्त्रात्मक स्वरूप पर अधिक बल देते हैं जिस स्वरूप को हमारी शिशु रूपी राज्य शासन विधि को भी ग्रहण करना है। इस आलोचना से एक निष्कर्ष और भी निकलता है, और वह यह है कि यदि यह सिद्धान्त प्रजातन्त्र के अनुकूल हैं तो एक प्रजातन्त्रात्मक राज्य में इनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना अस्वाभाविक एवं अप्राकृतिक नहीं है बल्कि इसके विपरीत इनकी प्राप्ति सम्भव भी है। परिणामस्वरूप आज नहीं तो कुछ समय में भारत-वर्ष उस स्वर्गिक लक्ष्य को प्राप्त करने की आशा कर सकता है जिसका संकेत इन निर्देशक सिद्धान्तों में है।

निर्देशक सिद्धान्तों के पक्ष में

निर्देशक सिद्धान्त राष्ट्र के उन हितों के रक्षार्थ स्थिर किए गए हैं जिन्हें जनता के प्रतिनिधि कदाचित् दल-बन्दी के प्रबल प्रवाह में विस्मरण कर बैठे। निर्देशक सिद्धान्तों को स्थान प्रदान करने का वास्तविक एवं न्याय-युक्त कारण यह भय है कि विभिन्न दलों की सरकारों के भाग्य परिवर्तन के साथ, जिसका होना हमारे देश की सचिवतन्त्रात्मक व्यवस्था में अवश्यम्भावी है, यह सम्भव है कि जिस दल के हाथों में शासन की बागडोर हो वह दल कुछ स्वार्थी प्रवृत्तियों के कारण निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत प्रतिपादित की गई मानू-भूमि की वास्तविक आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को विस्मरण कर बैठे। परन्तु क्योंकि निर्देशक सिद्धान्त निश्चित कर दिए गए हैं, इस कारण उस दल को जिसका व्यवस्थापिका सभा में बहुमत होगा, तथा जिसने कार्य-कारिणी का निर्माण किया होगा, निर्देशक सिद्धान्तों का आदर करना पड़ेगा। वह दल इन सिद्धान्तों को केवल इसी कारणवश न त्याग देगा कि इन पर ध्यान न देने से उसे किसी न्यायालय के प्रति उत्तरदायी न होना पड़ेगा, बल्कि वास्तव में इसके लिए उसे निर्वाचकों के प्रति, जो दण्ड और पारितोषिक प्रदान करने वाला जनता का सब से उच्च न्यायालय है, उत्तरदायी होना पड़ेगा। किसी दल द्वारा निर्देशक सिद्धान्तों के प्रति अरुचि प्रदर्शित होने से अथवा पूर्व समय से निश्चित योजना द्वारा उन्हें नष्ट करने से जनता में प्रतिघात की प्रवृत्ति का जाग्रत होना स्वाभाविक है, और उस दल के प्रतिनिधि, जिन्होंने इस प्रकार का व्यवहार किया हो, निर्वाचकों से यह आशा नहीं रख सकते कि उन्हें फिर से निर्वाचित कर दिया जाए। इस प्रकार निर्देशक सिद्धान्तों को एक बंधन के रूप में इसी हेतु स्थान प्रदान किया गया है कि कोई दल जनता की वास्तविक आवश्यकताओं को कुचल न सके।

इसके अतिरिक्त निर्देशक सिद्धान्तों का लक्ष्य यह भी है कि राष्ट्रीय शक्ति को समाज के रुढ़िवादी दल की मन की तरंग एवं सनक के विरुद्ध भी प्रगतिशील एवं

उच्चतिशील धाराओं में प्रवाहित करे। सेम्पसन को भी, जो निर्देशक सिद्धांतों का कठोर आलोचक है, यह स्वीकार करना पड़ा :

“किसी वैधानिक लेख पत्र में किसी ऐसी वस्तु के सम्मिलित करने की विद्वत्ता के, जो किसी राजनैतिक घोषणा के तुल्य हो, सम्बन्ध में संशय उठाए जा सकते हैं, परन्तु प्रत्येक परिस्थिति में यह (यह निर्देशक सिद्धांतों का अध्याय) इस सम्भावना को न्यून कर देगा कि अचल विधान का आश्रय लेकर (रुढ़िवादी प्रवृत्ति के व्यक्ति) सामाजिक उन्नति में रोड़ा अटका सकें।”^१

1 “While the wisdom of including what is tantamount to a political manifesto in a constitutional instrument may be open to question, it should at any rate diminish the possibility of appeal to a rigid constitution as a means of blocking social progress.” —Mr. Sampson.

पांचवाँ अध्याय

संघीय संसद

“वे (संसद के सदस्य) इस बात को जानते हैं कि वे आलोचना कर सकते हैं, वे यह भी जानते हैं कि उनकी आलोचना का उस सरकार पर प्रभाव पड़ेगा जिसका समस्त आधार जनता की सह्यता है, वे यह भी समझते हैं कि अनुपात में उनकी थोड़ी सी परिवर्तित सम्मति निकट भविष्य में सरकार और उसकी नीति दोनों को परिवर्तित कर सकती है, इसके अतिरिक्त वे यह भी जानते हैं कि सरकार भी इस बात को समझती है और इसी के अनुसार वह कार्य करेगी ?”^१

—जेनिंग्स

नवीन गणतन्त्रात्मक विधान के अन्तर्गत भारतीय संसद में दो भवन होंगे, प्रथम भवन लोक सभा (house of the people) कहलाएगा, और द्वितीय भवन का नाम राज्य परिषद् (council of states) होगा। राष्ट्रपति संसद के एक अनन्य भाग के रूप में रहेगा। दोनों भवनों द्वारा पास किए प्रस्तावों पर उसकी स्वीकृति आवश्यक होगी और उसी के नाम से समस्त एकट लागू किए जाएँगे। यह प्रस्तावित किया गया है कि संसद के दोनों भवन एक वर्ष में दो बार अवश्य आमन्त्रित किए जाएँ, तथा एक अधिवेशन की अन्तिम बैठक और आगामी अधिवेशन को प्रथम बैठक के मध्य का समय ६ मास से अधिक नहीं होना चाहिए। इस धारा के अन्तर्गत राष्ट्रपति समय-समय पर (१) संसद के एक अथवा दोनों भवनों को स्वयं द्वारा निश्चित स्थान समय पर आमन्त्रित कर सकता है, (२) दोनों भवनों को कुछ काल के लिए स्थगित कर सकता है, और (३) लोक सभा को समाप्त कर सकता है। दोनों भवनों का कोरम (निर्दिष्ट संख्या) उनके समस्त सदस्यों की संख्या का चौथाई भाग होगा।

1. “They (the members of Parliament) know that they can criticize, they are aware that their criticism will have effect on a Government whose whole basis is popular support; they know that a comparatively small change of opinion will in the near future alter both Government and policy; they know above all that the Government knows it and will act accordingly.”

—Jennings.

H.2343

निर्माण (अ) राज्य परिषद्

राज्य परिषद् के सदस्यों की अधिक से अधिक संख्या २५० होगी, जिनमें से बारह सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा और शेष सदस्य प्रान्तों के प्रतिनिधि होंगे। नियुक्त किए गए सदस्यों में वे व्यक्ति होंगे जो साहित्य, विज्ञान, कला और सामाजिक सेवा का विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव रखते हों। प्रान्तों के प्रतिनिधियों में से उन राज्यों के प्रतिनिधियों का, जो प्रथम नामावली (schedule) के 'अ' और 'ब' भाग में सम्मिलित हैं, निर्वाचन उन प्रान्तों की व्यवस्थापक समितियों के प्रतिनिधि अविभक्त हस्तान्तरित मत द्वारा अनुरूप प्रतिनिधित्व की प्रणाली के आधार पर करेंगे। इसके विपरीत उन राज्यों के प्रतिनिधियों के जो भाग 'स' में सम्मिलित हैं, निर्वाचन की प्रणाली संसद द्वारा निर्मित किसी कानून द्वारा निश्चित की जायगी। २६८ सदस्यों में से विभिन्न प्रान्तों को कुछ समय के लिए निम्नलिखित रूप से सीटें प्रदान की गई हैं।

(भाग 'अ') आसाम ६, बिहार २१, बम्बई १७, मद्रास २७, मध्य प्रदेश १२, उड़ीसा ६, पंजाब ८, उत्तर-प्रदेश ३१ और पश्चिमी बंगाल १५; (जोड़ १४६)।

(भाग 'ब') हैदराबाद ११, जम्मू और काश्मीर ४, मध्य भारत ६, मैसूर ६, पटियाला और पंजाब प्रान्तों का पूर्वी संघ ३, राजस्थान ६, सौराष्ट्र ४, ट्रावनकोर-कोचीन ६, और विन्ध्य प्रदेश ४; (जोड़ ५३)।

(भाग 'स') अजमेर और कुर्ग १, भोपाल १, बिलासपुर और हिमाचल प्रदेश १, देहली १, कूच १, और मनीपुर और त्रिपुरा १; (जोड़ ६)।

भारतवर्ष का उपराष्ट्रपति राज्य परिषद् का पदाधिकृत सभापति होगा। राज्य-परिषद् के सदस्य आपस में से एक उप-सभापति का निर्वाचन करेंगे।

(ब) लोक सभा

लोक सभा के सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक ५०० हो सकेगी जिनका निर्वाचन देश की समस्त जनता विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों से करेगी। निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होगा, अर्थात् २१ वर्ष तथा उससे अधिक आयु का प्रत्येक व्यक्ति इस निर्वाचन में भाग ले सकेगा। जो व्यक्ति यहाँ का निवासी न हो, जो पागल हो, अथवा जिसे किसी अभियोग में दण्ड मिल चुका हो, वह इस निर्वाचन में भाग न ले सकेगा। प्रतिनिधित्व का अनुपात यह रखा गया है कि ७५०००० जनसंख्या के लिए कम से कम एक प्रतिनिधि और ५००००० के लिए अधिक से अधिक एक

प्रतिनिधि भेजा जायगा। समस्त भारतवर्ष में निर्वाचन का यही अनुपात रखने का प्रयत्न किया जायगा। जन गणना की पूर्णता पर अनेक निर्वाचन क्षेत्रों को फिर से संसद के कानून द्वारा व्यवस्थित किया जायगा। विधान में यह भी प्रस्तावित किया गया है कि यदि राष्ट्रपति को यह अनुभव हो कि ऐंग्लो-इण्डियन जाति का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं हुआ है तो वह इस विधान के लागू होने के दिनांक से दस वर्ष के समय के लिए विधान के अन्तर्गत निश्चित प्रतिनिधित्व से दो सदस्य अधिक नियुक्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त प्रथम नामावली के भाग 'स' में उल्लिखित किसी राज्य अथवा किसी ऐसी सीमा के प्रतिनिधित्व को जो किसी राज्य में सम्मिलित नहीं हो संसद अपने एक कानून द्वारा लोक सभा में स्थान प्रदान कर सकती है। विधान के लागू होने के दिनांक के समय से दस वर्ष तक के लिए जन संख्या के अनुपात के आधार पर निम्नलिखित के लिए कुछ सीटें सुरक्षित रखी जाएंगी :—

(१) दलित वर्ग;

(२) आसाम के पिछड़े हुए क्षेत्रों के पिछड़े हुए वर्गों के अतिरिक्त अन्य पिछड़े हुए वर्ग; और

(३) आसाम के स्वतन्त्र जिलों के पिछड़े हुए वर्ग।

लोक सभा के सदस्य आपस में से ही दो सदस्यों का निर्वाचन करेंगे जो अध्यक्ष (Speaker) और उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) होंगे।

भवनों की अवधि

राज्य परिषद् एक स्थायी संस्था होगी। इसका विसर्जन नहीं हो सकेगा, परन्तु इसके एक तिहाई सदस्य प्रति द्वितीय वर्ष अवकाश ग्रहण कर लिया करेंगे।

इसके विपरीत लोक सभा की अवधि पाँच वर्ष नियत की गई है। इसे इस अवधि के पूर्व भी समाप्त किया जा सकता है। इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न न होने पर पाँच वर्ष पश्चात् यह स्वयं ही विसर्जित हो जाएगी। असाधारण परिस्थिति अथवा संकटकालीन अवस्था के अन्तर्गत संसद अपने एक कानून द्वारा लोक-सभा की अवधि को एक बार में एक वर्ष के लिए बढ़ा सकती है, परन्तु इस प्रकार की संकटकालीन अवस्था की घोषणा के समाप्त होने पर लोक सभा ६ मास से अधिक स्थिति नहीं रह सकेगी।

योग्यताएँ

संसद की सदस्यता के लिये निम्नलिखित योग्यताएँ निश्चित की गई हैं :—

(१) वह भारतवर्ष का नागरिक होना चाहिए।

(२) राज्य परिषद् के सम्बन्ध में उसकी आयु तीस वर्ष तथा लोक सभा के सम्बन्ध में उसकी आयु पच्चीस वर्ष से कम न होनी चाहिए।

(३) संसद द्वारा निर्धारित की गई अन्य योग्यताएँ भी रखता हा ।

इसके विपरीत कोई ऐसा व्यक्ति संसद के किसी भवन की सदस्यता का भोग नहीं कर सकेगा जो :

(१) भारत सरकार तथा किसी राज्य की सरकार के अन्तर्गत किसी ऐसे पद पर हो जिससे उसे लाभ होता हो । इस सम्बन्ध में संसद ने कुछ ऐसे पद घोषित किए हैं जिन पर यह प्रतिबन्ध लागू नहीं होता ;

(२) पागल हो तथा किसी न्यायालय ने यह घोषित भी कर दिया हो;

(३) दिवालिया हो ;

(४) भारतवर्ष का नागरिक न हो अथवा जिसने किसी अन्य राज्य की नागरिकता प्राप्त करली हो अथवा जो किसी अन्य राज्य के साथ सन्धि किए हुए हो ;

(५) संसद के किसी कानून द्वारा अयोग्य सिद्ध कर दिया गया हो ।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों के मन्त्री पद इस प्रकार के पद नहीं हैं जो लाभ के अन्तर्गत आते हों । कोई व्यक्ति एक साथ ही संसद के दोनों भवनों का सदस्य नहीं हो सकता और न कोई व्यक्ति एक साथ संसद के किसी एक भवन तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के किसी एक भवन का सदस्य हो सकता है । किसी सदस्य के सम्बन्ध में अयोग्यता के प्रश्न का निर्णय राष्ट्रपति पर निर्भर होगा । निर्वाचित सदस्य भी राष्ट्रपति अथवा उसके द्वारा नियुक्त किए गए किसी अन्य व्यक्ति के सन्मुख विधान के अनुसार शपथ ग्रहण किए बिना संसद के किसी भवन में न तो बैठ ही सकता है और न मतदान ही कर सकता है । यदि कोई व्यक्ति संसद के किसी भवन में बिना शपथ ग्रहण किए बैठता है, और इस बात को वह जानता है कि वह इसके अयोग्य है तो उस व्यक्ति पर जितने दिन वह किसी भवन में बैठेगा, पाँच सौ रुपया प्रतिदिन की गणना से उस पर जुर्माना किया जाएगा ।

संसद के सदस्यों को प्राप्त सुविधाएँ

संसद के प्रत्येक सदस्य को भाषण की स्वतन्त्रता होगी । संसद में दिए गए किसी भाषण अथवा संसद अथवा उसकी किसी समिति में दिए गए किसी मत के सम्बन्ध में किसी सदस्य पर मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकेगा । किसी भवन की रिपोर्ट अथवा प्रणाली के अधिकृत रूप से प्रकाशन करने पर उसका प्रकाशन करने वाला व्यक्ति भी किसी न्यायालय के सन्मुख उपस्थित नहीं किया जा सकेगा । अन्य विषयों के सम्बन्ध में जब तक संसद सदस्यों के अधिकार और सुविधाओं को अपने कानून द्वारा निश्चित न करदे, तब तक के लिए उनके अधिकार, सुविधाएँ

आदि ब्रिटिश पार्लियामेंट की लोक सभा के सदस्यों के अधिकार आदि के समान ही होंगी। इन सदस्यों के वेतन का निश्चय संसद अपने कानून द्वारा समय-समय पर करेगी, और जब तक कि यह निश्चित न हो जाए तब तक संसद के सदस्यों को वही वेतन मिलेगा जो इस विधान के लागू होने से पूर्व विधान सभा के सदस्यों को मिलता था।

मत, कोरम भाषा आदि से सम्बन्धित व्यवस्था

विधान के अन्तर्गत प्रस्तावित की गई धाराओं के अतिरिक्त, संसद के किसी भी भवन में किसी प्रश्न का निर्णय वहाँ उपस्थित सदस्यों के बहुमत द्वारा होगा। इस सम्बन्ध में भवन का सभापति मत देने के लिए अधिकृत नहीं होगा। परन्तु पक्ष और विपक्ष में दोनों ओर बराबर मत होने पर उसे निर्जीमत अथवा निर्णयात्मक मत प्रदान करने का अधिकार होगा। जब तक संसद कुछ अन्य निश्चय न करदे, संसद के दोनों भवनों की निर्दिष्ट संख्या (कोरम) भवनों की पूर्ण संख्या का दसवाँ भाग होगी। निर्दिष्ट संख्या के उपस्थित न होने पर भवन के अध्यक्ष का यह कर्त्तव्य होगा कि वह उस बैठक को उस समय तक के लिए स्थगित कर दे जब तक कि निर्दिष्ट संख्या उपस्थित न हो जाए। कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में यह निश्चित कर दिया गया है कि प्रत्येक भवन को अपनी कार्य प्रणाली निश्चित करने का अधिकार होगा। जब कभी दोनों भवनों की संयुक्त बैठक का आयोजन किया जायगा उस समय राष्ट्रपति दोनों भवनों के अध्यक्ष से परामर्श लेकर कार्य प्रणाली निश्चित करेगा। इस प्रकार की संयुक्त बैठकों में अध्यक्ष (Speaker) सभापति का स्थान ग्रहण करेगा; उसकी अनुपस्थिति में कार्य-प्रणाली द्वारा निश्चित किया गया व्यक्ति उस पद को ग्रहण करेगा। २६ जनवरी सन् १९५० से पन्द्रह वर्षों तक संसद का कार्य हिन्दी अथवा अँगरेजी में होगा; उसके पश्चात् यदि संसद कुछ और निश्चित न करे, तो कार्य प्रणाली की भाषा हिन्दी होगी। परन्तु यदि कोई सदस्य हिन्दी अथवा अँगरेजी में अपने विचार प्रकट नहीं कर सकता तो अध्यक्ष (Speaker) अथवा सभापति की आज्ञा से उसे अपनी मातृ भाषा के प्रयोग करने का अधिकार होगा। किसी न्यायाधीश को पदस्थ कराने के हेतु राष्ट्रपति को दिए गए प्रार्थना पत्र से सम्बन्धित वादविवाद के अतिरिक्त संसद में सर्वोच्च न्यायालय अथवा हाई कोर्ट के न्यायाधीशों के आचरण के सम्बन्ध में वादविवाद नहीं किया जा सकेगा।

व्यवस्थापक कार्य प्रणाली

(अ) आर्थिक प्रस्ताव के अतिरिक्त अन्य प्रस्तावों से

सम्बन्धित कार्य प्रणाली

आर्थिक प्रस्तावों के अतिरिक्त अन्य प्रस्ताव संसद के किसी भवन में प्रथम बार उपस्थित किए जा सकेंगे। यह प्रस्ताव उस समय तक पास नहीं माने जाएंगे

जब तक कि संसद के दोनों भवन इस पर अपनी स्वीकृति प्रदान न कर दें। यदि कोई संशोधन किया जाता है तो वह भी दोनों भवनों द्वारा स्वीकृत होना चाहिए। यदि कोई प्रस्ताव संसद में हो और दोनों भवन कुछ काल के लिए स्थगित कर दिए जाएँ, अथवा यदि कोई प्रस्ताव राज्य परिषद में हो और लोक सभा को विसर्जित कर दिया जाए, तो वे प्रस्ताव रद्द नहीं माने जाएंगे, भले ही लोक सभा ने उस प्रस्ताव को पास किया हो अथवा नहीं। परन्तु यदि कोई प्रस्ताव लोक सभा में हो, और यदि उस समय लोक सभा विसर्जित हो जाए तो वह प्रस्ताव रद्द हो जाएगा। आर्थिक प्रस्ताव के अतिरिक्त यदि किसी अन्य प्रस्ताव को संसद का एक भवन स्वीकृत करदे तथा दूसरा अस्वीकृत करदे अथवा किसी प्रस्ताव से सम्बन्धित संशोधन पर दोनों भवन सहमत न हों, अथवा यदि किसी भवन में प्रस्ताव को प्राप्त किए ६ मास व्यतीत हो चुके हों और वह पास न किया गया हो, तो राष्ट्रपति संसद के दोनों भवनों की एक संयुक्त बैठक आमन्त्रित कर सकता है। यदि किसी संयुक्त बैठक में उपस्थित सदस्यों के बहुमत द्वारा कोई प्रस्ताव पास कर दिया जाए, तो वह प्रस्ताव दोनों भवनों द्वारा स्वीकृत माना जाएगा। संयुक्त बैठकों में संशोधनों पर विचार करने के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं। यदि कोई प्रस्ताव एक भवन द्वारा स्वीकृत कर दिया जाए और दूसरा भवन उसे स्वीकृत न कर कुछ संशोधनों सहित उसे उस भवन में लौटा दे तो उन संशोधनों के अतिरिक्त जिनके कारण उस प्रस्ताव के होने में विलम्ब हुआ है, किसी अन्य संशोधन पर विचार नहीं हो सकेगा। इसके विपरीत यदि दूसरा भवन उस प्रस्ताव को कुछ संशोधनों सहित स्वीकृत कर उस भवन के पास भेज दे, तो केवल उन्हीं संशोधनों तथा अन्य ऐसे आवश्यक संशोधनों पर विचार किया जा सकेगा जिन्हें उस भवन ने उनमें स्थान न प्रदान किया हो।

(ब) आर्थिक प्रस्ताव

आर्थिक प्रस्ताव प्रथम बार केवल लोक सभा में ही उपस्थित किया जा सकता है। इस प्रकार के आर्थिक प्रस्ताव को लोक सभा स्वीकृत कर राज्य परिषद के पास भेज देती है। राज्य परिषद् इस प्रस्ताव को या तो स्वीकृत कर सकता है अथवा कुछ संशोधनों सहित उसे लोक सभा के पास भेज सकता है। परन्तु इतने कार्य के सम्पादन के लिए उस प्रस्ताव की प्राप्ति के दिनांक से चौदह दिन से अधिक नहीं लगने चाहिए। यह लोक सभा पर निर्भर है कि वह इन संशोधनों को स्वीकृत करे अथवा अस्वीकृत करे। लोक सभा जिस रूप में उस आर्थिक प्रस्ताव को दूसरी बार पास करेगी, उसी रूप में वह दोनों भवनों द्वारा स्वीकृत माना जाएगा। यदि राज्य परिषद् उस प्रस्ताव को चौदह दिन के समय में नहीं लौटाती तो वह प्रस्ताव दोनों भवनों द्वारा स्वीकृत माना जाएगा।

आर्थिक प्रस्ताव की परिभाषा

इस व्यवस्था से सम्बन्धित विधान के अन्तर्गत आर्थिक प्रस्ताव वह है जिसका सम्बन्ध निम्नलिखित एक अथवा समस्त विषयों से हो :— (१) किसी कर को लागू करने, समाप्त करने, परिवर्तित करने, व्यवस्थित करने तथा चुकाने से; (२) ऋण लेने से; (३) भारतवर्ष के संचित धन^१ के संरक्षण से, तथा इस प्रकार के धन में और धन संचित करने तथा धन लेने से; (४) भारतवर्ष के संचित धन में से धन के विनियोग^२ से; (५) इस प्रकार के धन को संचित धन के अन्तर्गत घोषित करने अथवा इस प्रकार के व्यय में वृद्धि करने से; (६) भारतवर्ष के संचित धन की आय में धन की प्राप्ति अथवा भारतवर्ष की जनता के व्यय^३ अथवा इस प्रकार के धन को संचित करने अथवा सब अथवा किसी राज्य के हिसाब के निरीक्षण से; अथवा (७) क्रम-संख्या १ और ६ में दिए गए विषयों के सम्बन्ध में किसी आकस्मिक विषय से। इसके अतिरिक्त केवल उपर्युक्त विषयों से सम्बन्ध रखने वाला प्रस्ताव ही आर्थिक प्रस्ताव नहीं माना जाएगा, बल्कि किसी प्रस्ताव के सम्बन्ध में यदि यह प्रश्न उठे कि वह प्रस्ताव आर्थिक प्रस्ताव है अथवा नहीं, तो लोक सभा के अध्यक्ष (Speaker) का निर्णय सर्वमान्य होगा, और इस प्रकार के प्रस्ताव को राज्य परिषद् अथवा राष्ट्रपति के पास भेजते समय वह अर्थात् अध्यक्ष (Speaker) उस प्रस्ताव के साथ एक प्रमाणपत्र भी भेजेगा कि वह प्रस्ताव आर्थिक प्रस्ताव है। इस स्थान पर हमारे अध्यक्ष का यह अधिकार इंग्लैंड की लोक सभा (House of Commons) के अध्यक्ष के अधिकार के समानान्तर है।

(स) प्रस्ताव से सम्बन्धित स्वीकृति और निषेधाधिकार

जब कोई प्रस्ताव संसद के दोनों भवनों द्वारा स्वीकृत हो जाएगा तो उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के हेतु भेजा जाएगा। राष्ट्रपति को उस प्रस्ताव को स्वीकृत अस्वीकृत करने का अधिकार होगा। यदि राष्ट्रपति उस पर अपनी अस्वीकृति प्रकट करेगा तो वह शीघ्रातिशीघ्र अपने सुझाव उपस्थित कर उसे दोनों भवनों के पास भेज देगा। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वह प्रस्ताव आर्थिक प्रस्ताव नहीं होना चाहिए। उसके भेजने के पश्चात् संसद उस प्रस्ताव पर उसी रूप से विचार करेगी। यदि वह प्रस्ताव संशोधन सहित अथवा रहित फिर से स्वीकृत करके राष्ट्रपति के पास भेजा जाएगा, तो वह उसे अस्वीकृत नहीं करेगा।

आर्थिक कार्य प्रणाली

(अ) वार्षिक आय-व्यय का व्योरा

विधान के अन्तर्गत आर्थिक विषयों की कार्यप्रणाली को उनकी विशेषताओं के अनुसार तीन शोर्षकों में विभाजित कर दिया गया है। उनमें प्रथम है वार्षिक

^१ Consolidated Fund

^२ Appropriation

आय-व्यय का ब्योरा, जिसे राष्ट्रपति संसद के सम्मुख रखता है और जिसमें भारत सरकार की उस वर्ष की आय और व्यय का अनुमानित ब्योरा होता है। ब्यौरे में उद्धृत अनुमानित व्यय में यह स्पष्ट होना चाहिए कि—(१) भारतवर्ष के संचित धन के व्यय से सम्बन्धित धन; तथा (२) भारतवर्ष के संचित धन में से किए जाने वाले व्यय का धन और अन्य व्यय के अतिरिक्त मालगुजारी से सम्बन्धित व्यय कितना है। भारतवर्ष के संचित धन में से निम्न-लिखित विषयों पर धन व्यय किया जाएगा : —

(१) राष्ट्रपति का वेतन, भत्ता तथा अन्य सुविधाएँ आदि तथा उसके पद से सम्बन्धित अन्य व्यय; (२) राज्यपरिषद् के सभापति और उप सभापति और लोक सभा के अध्यक्ष (Speaker) और उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) के वेतन और भत्ता; (३) ऋण सम्बन्धी व्यय जिसके लिए भारत सरकार उत्तरदायी है तथा जिसमें सूद, निहित धन, मुक्ति धन, तथा ऋण लेने और चुकाने का व्यय भी सम्मिलित है, (४) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन, भत्ता तथा वृत्ति, (५) संघीय न्यायालय के न्यायाधीश की वृत्ति, (६) उन हाईकोर्ट के न्यायाधीशों की वृत्ति जिसका न्यायाधिकार उस क्षेत्र पर हो जो भारतवर्ष की सीमा में हो अथवा इस विधान के लागू होने से पूर्व किसी ऐसे प्रान्त के क्षेत्र पर जिनका न्यायाधिकार हो जो प्रथम नामावली के भाग 'अ' में उद्धृत किसी राज्य के समान हो; (७) भारतवर्ष के औडीटर जनरल का वेतन, भत्ता तथा वृत्ति; (८) किसी न्यायालय द्वारा प्रदान किए गए किसी निर्णय पारितोषिक अथवा डिग्री की पूर्णता के लिए धन; (९) सर्वोच्च न्यायालय का शासन प्रबन्ध सम्बन्धी व्यय; (१०) समझौते के अनुसार निश्चित देशों राजाओं का निजी व्यय का धन; (११) यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन सम्बन्धी व्यय; और (१२) विधान अथवा संसद के किसी कानून द्वारा घोषित अन्य व्यय। संचित धन से लिए जाने वाले व्यय के सम्बन्ध में यह प्रस्तावित किया गया है कि संसद में इन पर केवल वाद-विवाद हो ही सकेगा, किसी को इनके सम्बन्ध में मत दान का अधिकार न होगा। इसके विपरीत अन्य व्यय का ब्योरा केवल एक माँग के रूप में लोक सभा के सम्मुख उपस्थित किया जा सकेगा; लोक सभा को यह अधिकार होगा कि इस प्रकार उपस्थित की गई माँगों को स्वीकृत करदे अथवा अस्वीकृत करदे अथवा प्रस्तावित माँग को घटा दे। किसी अनुदास से सम्बन्धित माँग राष्ट्रपति की स्वीकृति बिना उपस्थित नहीं की जा सकेगी।

(ब) विनियोग प्रस्ताव

उपयुक्त प्रणाली पर अनुदान प्रदान करने के पश्चात्, भारतवर्ष के संचित धन में से उस समस्त धन का विनियोग प्राप्त करने के लिए लोक सभा के सम्मुख एक

प्रस्ताव उपस्थित किया जायगा जिसे (१) लोक सभा द्वारा प्रदान की गई माँगों; और (२) भारतवर्ष के संचित धन से लिए जाने वाले धन के लिए लिया गया है। परन्तु यह धन उस धन से अधिक नहीं होना चाहिए जो संसद के सम्मुख उपस्थित किए गए पूर्व के व्योरे में था। जिन विषयों के सम्बन्ध में भारतवर्ष के संचित धन में से लिया जाएगा, उन विषयों के प्रति व्यय किए जाने वाले धन को न्यूनाधिक करने अथवा अनुदान का शीर्षक परिवर्तित करने अथवा अनुदान के धन को न्यूनाधिक करने से सम्बन्धित किसी प्रस्ताव को संसद का कोई भवन स्वीकार न करेगा। इस प्रकार पास किए गए विनियोग प्रस्ताव के अतिरिक्त भारतवर्ष के संचित धन में से धन न लिया जायगा।

(स) अन्य आर्थिक प्रस्ताव

अन्य व्यय की आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रपति अन्य व्यय की माँग कर सकता है। इस माँग की स्वीकृति के सम्बन्ध में भी वही प्रणाली अपनाई जायगी। लोक सभा को कोई अनुदान स्वीकृत करने का अधिकार होगा, और भारतवर्ष के संचित धन में से प्रदान किए गए इस प्रकार के धन को लौटा लेने का अधिकार संसद को होगा।

अन्त में यह ध्यान में रखना चाहिए कि कोई आर्थिक प्रस्ताव प्रथम बार राज्य परिषद् के सम्मुख उपस्थित नहीं किया जा सकेगा। राष्ट्रपति की आज्ञा के अन्तर्गत यह सम्भव हो सकता है। किसी कर के घटाने अथवा समाप्त करने के प्रश्नों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का साधन सफल नहीं हो सकेगा।

संसद के कार्य

विशेषकर हमारी संसद निम्नलिखित कार्य करेगी :—

(अ) व्यवस्थापक कार्य

विशेष रूप से संसद का कार्य कानून बनाना है। 'संघ तालिका' में दिए गए विषयों के सम्बन्ध में इसे कानून बनाने का अधिकार है। एकीभूत तालिका में दिए गए विषयों के सम्बन्ध में भी यह कानून बना सकती है। इन विषयों के सम्बन्ध में राज्य की व्यवस्थापिक सभाएँ भी कानून बना सकती हैं, परन्तु सामान्य रूप से संसद कानून ही वैध घोषित किए जाते हैं। संसद राजकीय तालिका में दिए गए विषयों सम्बन्ध में भी कानून बना सकती है—परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में ही। संसद के प्रत्येक कानून पर राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है, जो प्रायः प्राप्त हो ही जाती है।

कार्यकारिणी-नियंत्रण सम्बन्धी कार्य

मन्त्रि परिषद् संसद के प्रति उत्तरदायी रहेगा। मन्त्रि परिषद् संयुक्त रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होगा।^१ यद्यपि विधान के अंतर्गत उन साधनों की विवे-

^१ धारा ७५ की उपधारा ३.

नियन्त्रण रखेगी। परन्तु निम्नलिखित द्वारा ही लोक सभा कार्यकारिणी पर नियन्त्रण रखेगी।

(१) सदस्यों का प्रश्न पूछने का अधिकार; (२) निन्दा का प्रस्ताव पास करना; (३) किसी मंत्री अथवा मन्त्रि परिषद् के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास करना; (४) किसी मंत्री द्वारा उपस्थित किसी प्रस्ताव को अस्वीकृत करना अथवा उसमें इस प्रकार के संशोधन रखना जो मंत्री को स्वीकार न हों; अथवा (५) किसी माँग अथवा कर के प्रस्ताव को घटाना अथवा अस्वीकृत करना।

अर्थ-नियन्त्रण सम्बन्धी कार्य

राष्ट्र की प्रतिनिधि होने के नाते संसद संघ के आय-व्यय पर भी निरीक्षण रखेगी। यह प्रजातन्त्र की एक स्वीकृत लोकोक्ति है कि कर लगाने के लिए जनता से पूछा जाए और व्यय के लिए उसकी स्वीकृति प्राप्त की जाए। इसे जनता संसद द्वारा ही कर सकती है। प्रत्येक वर्ष कार्यकारिणी संसद के सन्मुख आय-व्यय का एक अनुमानित ब्योरा उपस्थित करेगी। संसद किसी कर को घटा अथवा नष्ट कर सकती है। कर लगाने के किसी नवीन प्रस्ताव को भी यह अस्वीकृति कर सकती है। व्यय के कुछ शीर्षक संसद के सन्मुख उसके मतदान के लिए उपस्थित नहीं किए जाएंगे। यद्यपि इनके सम्बंध में संसद को मतदान का अधिकार नहीं परन्तु प्रत्येक शीर्षक पर वह वाद विवाद करके अपनी इच्छा प्रकट कर सकती है; और यदि कार्यकारिणी संसद की सहायता चाहती है, तो अवश्य ही वह इन विचारों पर गम्भीरतापूर्वक सोच विचार करेगी। अन्य समस्त विषयों पर इससे मतदान का अधिकार होगा, और इस लिए वह किसी माँग को घटा अथवा अस्वीकृत कर सकती है।

दोषारोपण सम्बन्धी कार्य

दोषारोपण के अवसर पर संसद एक न्याय-संस्था के रूप में कार्य करेगी। यदि राष्ट्रपति विधान का उल्लंघन करता है तो संसद उस पर मुकदमा चला सकती है। संसद का कोई एक भवन अभियोग लगाएगा और दूसरा भवन उसकी छान-बीन करेगा। इस प्रकार का अभियोग एक प्रस्ताव के रूप में चौदह दिन पूर्व सूचना देकर दिया जाना चाहिए, और इस प्रकार के प्रस्ताव पर उस भवन के चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर होने चाहिए। यह प्रस्ताव उस भवन की कुल संख्या के ३ भाग द्वारा पास होना चाहिए। छान-बीन करने वाला भवन यदि उस अभियोग को स्थित रखना चाहता है तो यह भी एक प्रस्ताव के रूप में ही होगा, जिसका समर्थन उस भवन के समस्त सदस्यों के ३ भाग द्वारा होना चाहिए।

न्याय प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य

यद्यपि न्याय प्रबन्ध में संसद कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी, परन्तु उसके उचित प्रबन्ध का निरीक्षण उसी का कार्य होगा। किसी न्यायाधीश के कुच्यवहार करने पर अथवा उसकी अयोग्यता के कारण संसद राष्ट्रपति से ऐसे न्यायाधीश को पदस्थ करने की प्रार्थना कर सकती है, और वह इस प्रार्थना के अनुसार कार्य करेगा। इस प्रकार की प्रार्थना दोनों भवनों में सदस्यों की कुल संख्या के बहुमत का समर्थन तथा उपस्थित सदस्यों के ३ भाग के बहुमत द्वारा पास होना चाहिए।

उपसहार

मन्त्रि परिषद् और संसद

अंगरेजी आदर्श पर निर्मित भारतीय संसद अधिक से अधिक “आलोचना के केन्द्र और बाह्य सम्मति की प्रतिच्छाया के” रूप में कार्य कर सकेगी। कार्यकारिणी से प्रश्न पृष्ठ कर, अथवा उसकी निंदा का प्रस्ताव पास कर, अथवा उसके प्रति अविश्वास प्रस्ताव पास कर वह मन्त्रि परिषद् को त्याग पत्र देने के लिए विवश कर सकती है। संसद कार्यकारिणी के समस्त कार्यों का निरीक्षण करेगी और उन पर नियन्त्रण रखेगी इस प्रकार राष्ट्रीय मार्ग में उन धनियों की रक्षा और संरक्षण करते हुए, जो अग्रगण्य हैं, संसद सतत् एवं अनवरत् रक्षक के रूप में है। परन्तु संसद का यह नियन्त्रण केवल सैद्धान्तिक है वास्तविक नहीं।

इसलिए यह भी सत्य है कि एक प्रस्ताव के प्रवेश, उस पर होने वाले वाद-विवाद पर और उसके पास होने में कार्यकारिणी का भी यथेष्ट प्रभाव रहता है। संसद को मन्त्रिपरिषद् के निर्णय और नीति को अस्वीकृत करने का साहस अधिकतर नहीं होगा, क्योंकि मन्त्रिपरिषद् संसद में बहुमत का भोग करेगा। सैद्धान्तिक रूप से संसद कानून निर्माण करने वाली एक स्वतंत्र संस्था है; परन्तु राजनीति का कोई विद्यार्थी जिसका दृष्टिकोण व्यावहारिक होगा इस सत्य को अस्वीकार नहीं कर सकता कि जिन देशों में सचिवतंत्र सरकार है वहाँ कर लगाने और कानून बनाने के कार्यों पर संसद का अधिकार कभी भी निरंकुश एवं पूर्ण नहीं रहा। वास्तव में संसद के सदस्यों के ‘एक दल और समान नीति’ विचारने वाले मस्तिष्क में यह भय सदा रहता है कि कहीं उनसे सीट छिन न जाय, और परिणामस्वरूप व्यवस्थापक प्रस्तावों का भाग्य निर्णय तो उनके उपस्थित किए जाने के पूर्व ही हो जाता है। ब्रिटिश प्रणाली की ओर संकेत करते हुए रैमजे म्योर ने लिखा है कि, “यह कहना कि पार्लियामेंट मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण रखती है, एक मूर्खता है।” आर्थिक विषयों के सम्बन्ध में भी कार्यकारिणी एक निर्णायक के रूप में रहेगी। यह स्वीकार करना कुछ कठिन नहीं कि लोक सभा में ऐसे सदस्यों की संख्या यथेष्ट हो सकती है जो शासन सम्बन्धी कार्यों के सम्पर्क में कभी न आए हों। यदि मन्त्रिपरिषद् उन्हें आय और व्यय के अंक प्रदान न करे, तो

वे इसकी खोज भी नहीं कर सकते । इस प्रकार की परिस्थिति में व्यवस्थापिका सभा अधिक से अधिक यही कर सकती है कि कार्यकारिणी के प्रस्तावों का समर्थक मौन रहकर कर दे । विदेशी नीति से सम्बन्धित विषयों में भी मन्त्रिमण्डल की सत्ता सर्वोच्च रहेगी । शासन व्यवस्था का जटिल स्वरूप व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों के ज्ञान से परे की वस्तु है । व्यवस्थापिका सभा को अपने नियन्त्रण में रखने का अन्तिम अस्त्र कार्यकारिणी के पास है व्यवस्थापिका सभा को विसर्जित करना । जब तक भवन में मन्त्रिपरिषद् का समर्थन उसका दल करता रहेगा, तब तक मन्त्रिपरिषद् ही संसद पर अपना नियन्त्रण रखेगी ।

छठा अध्याय

राष्ट्रपति

“इस पदाधिकारी का पद संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति का स्मरण करा देता है। परन्तु नाम की समानता के अतिरिक्त अमरीका में प्रचलित शासन की प्रणाली और इस (निर्मित) विधान के अन्तर्गत प्रतिपादित शासन प्रणाली में कोई समानता नहीं।”

—डाक्टर अम्बेदकर

भारतीय विधान के अन्तर्गत प्रतिपादित प्रजातन्त्र के स्वरूप का आधार इंग्लैंड में प्रचलित सरकार की सचिवतन्त्रात्मक प्रणाली है। यद्यपि भरतवर्ष एक गणतन्त्र है परन्तु इस का अध्यक्ष इंग्लैंड के सम्राट समान वंशीय न होकर अमरीका के सभापति के समान निर्वाचित है। यद्यपि भारतीय संघ का अध्यक्ष अपने नाम (राष्ट्रपति) के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति के समान है, परन्तु उसकी स्थिति इंग्लैंड के सम्राट के समान है। उसके समान यह भी अधिकार पूर्ण और अधिकार रहित है—सैद्धान्तिक रूप से अधिकार पूर्ण और व्यावहारिक रूप से अधिकार रहित। यह एक ऐसा पदाधिकारी है जिसके सब ओर बंधन हैं, इसे सब कुछ करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है, परन्तु कर यह वही सकता है जो इसके मंत्री कहें, अपनी इच्छानुसार यह कुछ नहीं कर सकता। भरतवर्ष की सचिवतन्त्रात्मक सरकार की प्रणाली में यह नाममात्र का अध्यक्ष तथा एक प्रतिरूप के समान है, जिसे समय-समय पर अपने व्यक्तित्व के प्रयोग के अतिरिक्त और कोई अधिकार नहीं। राष्ट्रपति के अधिकार पूर्ण और अत्यंत व्यापक पद का निर्माण करते समय विधान निर्माताओं ने इसी दृष्टिकोण से राष्ट्रपति की कल्पना की थी। उन्होंने इस पद का निर्माण इसकी पूर्णता के साथ किया

1. “The title of this functionary reminds one of the President of the United States. But beyond identity of names there is nothing common between the form of government prevalent in America and the form of government under the (draft) constitution.”

—Dr. Ambedkar.

परन्तु इसके सब ओर पड़ी शृंखला की ओर उन्होंने केवल एक संकेत मात्र ही किया, और उसे सचिवतन्त्रात्मक प्रणाली के करघे पर एक प्रथा के रूप में विकसित होने के लिए छोड़ दिया। इसके परिणाम स्वरूप यह सम्भव है कि यदि किसी ऐसे महान व्यक्तित्व वाले राष्ट्रपति पर, राष्ट्र में भी जिसके अनेक अनुयायी हों, शक्ति की ईश्वरीय आकांक्षा अपना प्रभुत्व स्थापित करले, तो प्रथा के रूप में अपने चारों ओर पड़ी शृंखला को वह मकड़ी के जाले के समान तोड़ सकता है और विधान द्वारा प्रतिपादित उन अधिकारों का प्रयोग आरम्भ कर सकता है जो उसे इस सम्भावना के साथ प्रदान किए गए थे कि वह इनका प्रयोग नहीं करेगा। परन्तु इस सत्य से भी विमुख नहीं हुआ जा सकता कि यह सम्भावना केवल कल्पना की एक उँची उड़ान है, दूर की कौड़ी है।

भारतवर्ष की सचिवतन्त्रात्मक सरकार की प्रणाली में राष्ट्रपति की उपस्थिति तर्क संगत है, क्योंकि इस प्रकार की प्रणाली के अन्तर्गत एक सरकार के समाप्त होने और दूसरी के निर्मित होने में कुछ समय लगता है, और उसी शून्य स्थान को भरने के लिए राष्ट्रपति की उपस्थिति अनिवार्य है। किसी सरकार के न होने पर शक्ति का पूर्ण अधिकारी राष्ट्रपति ही होगा। सरकार की अनित्यता एवं अविच्छिन्नता का द्योतक केवल राष्ट्रपति ही है। मंत्रिमण्डलों के जीवन और मरण की उथलपुथल में राष्ट्रपति पाँच वर्ष तक देश की रक्षा एवं पथ प्रदर्शन करते हुए स्थित एवं दृढ़ रहेगा।

भारतीय संघ की कार्यकारिणी शक्ति एक व्यक्ति—भारतीय गणतंत्र के राष्ट्रपति में निहित की गई है। यदि इस शक्ति को अनेक व्यक्तियों में विभाजित कर दिया गया होता तो यह अत्यन्त क्षीण हो जाती। संयुक्त अथवा बहुल कार्यकारिणी का तात्पर्य होता गतिमान बहुमत दलों का उपस्थिति और इससे दलबन्दी की प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन मिलता।

राष्ट्रपति के पद की विश्लेषणा निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत की जा सकती है :

(१) राष्ट्रपति का निर्वाचन

राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष प्रणाली के आधार पर संसद के दोनों भवनों तथा समस्त राज्यों की व्यवस्थापक समितियों (प्रथम भवन) के सदस्यों की निर्वाचक संस्था द्वारा होगा। राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रणाली अविभक्त हस्तान्तरित मत के आधार पर अनुरूप प्रतिनिधित्व की प्रणाली होगी। मतदान की रीति गुप्त होगी। अविभक्त हस्तान्तरित मत द्वारा अनुरूप प्रतिनिधित्व की प्रणाली का तात्पर्य है कि इसके अन्तर्गत प्रत्येक निर्वाचक को एक मत का अधिकार प्रदान किया जाता है परन्तु विभिन्न उम्मीदवारों के लिए वह अपनी विभिन्न रुचि का प्रदर्शन कर सकता

है। प्रत्येक उम्मीदवार के मतों की गणना पूर्व से निश्चित एक स्थायी अनुपात एवं अंश (कोटा) के अनुसार की जाती है। किसी उम्मेदवार द्वारा निर्दिष्ट अंश से अधिक प्राप्त किए गए मत उसके आगामी उम्मेदवार को प्रदान कर दिए जाते हैं। यह निश्चित अंश निम्नलिखित सिद्धान्त के आधार पर निश्चित किया जाता है—

मतों की कुल संख्या + १

निर्वाचित होने वाले उम्मेदवारों की संख्या + १.

उदाहरण स्वरूप मान लीजिए कि मत पत्रों की संख्या १८००० और निर्वाचित होने वाले उम्मेदवारों की संख्या ६ है। इस दशा में निश्चित अंश (कोटा) होगा :

$$\frac{१८०००}{६ + १} + १ = २५७२$$

प्रथम गणना में केवल प्रथम रुचि वाले मतों की गणना की जाती है और जो उम्मेदवार उपर्युक्त निश्चित संख्या की प्राप्ति कर लेता है वह वह निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। हमारे विधान निर्माताओं का लक्ष्य था विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व की संख्या में जहाँ तक सम्भव हो सके समानता प्राप्त करना तथा इसके साथ-साथ राज्यों (एक इकाई के रूप में) और संघ को समानता प्राप्त करना। संसद और प्रत्येक राज्य की व्यवस्थापक समिति के निर्वाचित सदस्यों को कितने मत देने का अधिकार है—यही निश्चित करने के लिए विधान के अन्तर्गत कुछ नियम प्रस्तावित किए गए हैं। किसी राज्य की व्यवस्थापक समिति के प्रत्येक सदस्य के मतदान की संख्या का सूत्र यही होगा जो उस राज्य की जनसंख्या को उस राज्य की व्यवस्थापक समिति के निर्वाचित सदस्यों की संख्या से विभाजित करने पर जो भाज्यफल आए उसे एक सदस्य से विभाजित करने पर जो संख्या भाज्यफल की होगी। अन्तिम विभाजन के पश्चात् शेष की यदि वह पाँच सौ से न्यून नहीं है—गणना भी भाज्यफल में प्राप्त की गई मतों की संख्या में एक मत की गणना के आधार से कर दी जाएगी। भली प्रकार से समझने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक है। उदाहरण-स्वरूप यह मान लीजिए कि बिहार राज्य की जनसंख्या ३७,७४१,००० और उसकी व्यवस्थापक समिति के निर्वाचित सदस्यों की संख्या ३७७ है। उपर्युक्त विधि के अनुसार जनसंख्या को ३७७ से विभाजित करना होगा। विभाजित करने पर इसका भाज्यफल १००, १०८ आता है। इसके पश्चात् इस भाज्यफल को १००० से विभाजित करना होगा। इस विभाजन के फलस्वरूप जो भाज्यफल होगा वही प्रत्येक सदस्य के मत की संख्या का मूल्य होगा। इस स्थान पर यह भाज्यफल १०० होगा—शेष १०८ रद्द कर दिए जाएंगे क्योंकि वे ५०० से कम हैं।

इसी प्रकार संसद के दोनों भवनों के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतदान की संख्या का मूल्य वही होगा जो समस्त राज्यों की व्यवस्थापक समितियों के सदस्यों को प्रदान किए मतों की समस्त संख्या को संसद के दोनों भवनों के समस्त निर्वाचित सदस्यों की संख्या से विभाजित करने पर जो संख्या भाज्यफल की होगी। यदि शेष आधे से अधिक होगा तो सदस्यों के मतदान में एक मत और जोड़ दिया जाएगा।

(२) योग्यताएँ

राष्ट्रपति का पद प्राप्त करने के लिए किसी व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि :—

- (अ) वह भारतवर्ष का नागरिक हो;
- (ब) उसकी आयु ३५ वर्ष अथवा इससे अधिक हो;
- (स) वह लोक सभा की सदस्यता प्राप्त करने के योग्य हो; और
- (द) वह किसी ऐसे पद पर न हो जो संघीय अथवा किसी राज्य की सरकार के अन्तर्गत लाभ प्रदान करने वाला हो, अथवा किसी ऐसी स्थानीय संस्था आदि में इस प्रकार के पद पर आसीन हो जो उपर्युक्त सरकारों के आधीन हो। निम्न-लिखित पद लाभ प्रदान करने वाले पद नहीं स्वीकार किए गए हैं। संघ के राष्ट्रपति का पद अथवा उपराष्ट्रपति का पद अथवा किसी राज्य के राज्यपाल, राजप्रमुख अथवा उप राजप्रमुख का पद अथवा संघ अथवा किसी राज्य की सरकार का मन्त्री पद। राष्ट्रपति इस पद के लिए दुबारा चुनाव लड़ सकता है।

(३) अवधि और सुविधाएँ

राष्ट्रपति का कार्यकाल पाँच वर्ष निश्चित किया गया है। राष्ट्रपति इस अवधि तक अपने पद पर आसीन रहेगा यदि इसके पूर्व ही वह अपने पद से त्याग पत्र न दे दे। इस प्रकार का त्यागपत्र राष्ट्रपति उपराष्ट्रपति के सन्मुख उपस्थित करेगा, और वह उसे लोकसभा के अध्यक्ष के सन्मुख उपस्थित करेगा। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति को विधान का उल्लंघन करने के आधार पर अभियोग द्वारा भी उसके पद से हटाया जा सकता है। इस प्रकार का अभियोग संसद का कोई भवन लगा सकता है। इस प्रकार के अभियोग की धाराएँ एक प्रस्ताव के रूप में होनी चाहिए जो चौदह दिन की पूर्व सूचना के पश्चात् ही उपस्थित किया जा सकता है। इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में यह भी आवश्यक है कि इस पर उस भवन के सदस्यों की कुल संख्या के कम से कम एक चौथाई ($\frac{1}{4}$) सदस्यों के हस्ताक्षर होने चाहिए। इस प्रकार का प्रस्ताव उस भवन के $\frac{2}{3}$ बहुमत द्वारा पास होना चाहिए। उसके पश्चात् दूसरा भवन (यह कोई सा भवन हो सकता है) उस अभियोग के सम्बन्ध में छानबीन करेगा। छानबीन के अवसर पर राष्ट्रपति को अपील करने और प्रतिनिधित्व का अधिकार प्रदान किया गया है। यदि

इस छानबीन के परिणामस्वरूप उस अभियोग को स्थित रखने के सम्बन्ध में उस दूसरे भवन में भी इस प्रकार का प्रस्ताव ३ बहुमत द्वारा पास कर दिया जाए, तो इस प्रकार के प्रस्ताव के पास होने के दिनांक से राष्ट्रपति को उसके पद से पृथक कर दिया जाएगा ।

राष्ट्रपति के वेतन, भत्ता तथा अन्य सुविधाओं का निश्चित करना संसद का कार्य है । यह कार्य संसद के एक कानून द्वारा सम्पन्न होगा । राष्ट्रपति के कार्य काल के मध्य में इनमें किसी प्रकार की न्यूनता अथवा कमी नहीं की जा सकेगी । इस सम्बन्ध में जब तक संसद कोई कानून निर्मित न करे, उस समय तक के लिए उसे १००००) रुपया प्रति मास वेतन तथा अन्य भत्ते तथा सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी । यह भत्ता तथा सुविधाएँ वही होंगी जो औपनिवेशिक भारतवर्ष के गवर्नर जनरल को प्राप्त थीं । राष्ट्रपति को निवास के लिए सरकार की ओर से एक भवन प्रदान किया जाएगा ।

राष्ट्रपति को न्याय सीमा से अत्यधिक मुक्ति प्रदान की गई है । अपने पद से सम्बन्धित किसी कार्य के सम्बन्ध में वह देश के किसी न्यायालय के सन्मुख उत्तरदायी नहीं होगा । जब तक वह अपने पद पर आसीन है उस समय तक उसके विरुद्ध किसी प्रकार की फौजदारी न्यायप्रणाली लागू नहीं की जा सकेगी । इसी प्रकार उसके विरुद्ध किसी प्रकार की दीवानी न्याय प्रणाली उस समय तक लागू नहीं की जा सकेगी जब तक कि इस सम्बन्ध में उसे नोटिस न दिया जाय और इस प्रकार के नोटिस को दिए हुए दो मास का समय व्यतीत न हो गया हो । उसको बन्दी बनाने के आशय का कोई आदेश लागू नहीं किया जा सकता । विधान का उल्लंघन करने के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से वह संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं होगा । विधान के उल्लंघन के सम्बन्ध में उस पर मुकदमा चलाया जा सकता है ।

(४) राष्ट्रपति के अधिकार

संघ के राष्ट्रपति अधिकारों का वर्णन निम्नलिखित दो व्यापक शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

(अ) साधारण समय में राष्ट्रपति के अधिकार;

(ब) असाधारण परिस्थिति में राष्ट्रपति के अधिकार ।

इन अधिकारों का विस्तृत विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(अ) साधारण समय में राष्ट्रपति के अधिकार

इस शीर्षक के अन्तर्गत राष्ट्रपति के अधिकारों का विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(१) शासन सम्बन्धी अधिकार

राष्ट्रपति संघीय कार्यकारिणी का अध्यक्ष होता है। भारत सरकार के समस्त शासन सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन उसी के नाम से होगा। यहाँ इस बात का उल्लेख भी आवश्यक है कि संघ की कार्यकारिणी शक्ति का सम्बंध

(अ) उन समस्त विषयों से है जिनके सम्बंध में संसद को कानून निर्माण का अधिकार प्राप्त है; और

(ब) उन समस्त अधिकारों के प्रयोग से है जो भारत सरकार को किसी संधि अथवा समझौते द्वारा प्राप्त हुए हैं।

राष्ट्रपति इन अधिकारों का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से अथवा अपने आधीन पदाधिकारियों द्वारा करेगा। प्रत्येक दशा में इन अधिकारों का प्रयोग विधान के अनुसार ही होगा।

उपयुक्त विवेचन केवल एक सामान्य विवेचन ही है। उसके विशेष शासन सम्बन्धी अधिकारों का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(अ) नियुक्ति सम्बन्धी अधिकार

नियुक्ति करने के सम्बंध में राष्ट्रपति को अत्यंत व्यापक अधिकार प्राप्त हैं। प्रधान मंत्री तथा उसकी सम्मति से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा। राष्ट्रपति के प्रति विश्वासी रह कर ही यह पदाधिकारी अपने पदों पर आसीन रह सकेंगे। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित की नियुक्ति भी राष्ट्रपति ही करेगा।

भारतवर्ष के सर्वोच्च न्यायालय तथा हाईकोर्ट के न्यायाधीश, राज्यों के राज्य-पाल, भारतवर्ष के औडोटर जनरल और कम्पट्रोलर जनरल (Comptroller General), भारतवर्ष का एटोर्नी जनरल तथा संघीय पब्लिक सर्विस कमीशन के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्य इसके अतिरिक्त सेना तथा शासन से सम्बन्धित प्रत्येक पदाधिकारी राष्ट्रपति के प्रति विश्वासी रह कर ही अपने पद पर आसीन रह सकेगा। इस सम्बन्ध में विधान कुछ अन्य नियम भी प्रस्तावित कर सकता है। राज्यों के पारस्परिक वैमनस्य को दूर करने अथवा समस्त राज्यों में एकता की भावना के विकास के हेतु राष्ट्रपति एक अन्तराज्य समिति की स्थापना भी कर सकता है। इनके अतिरिक्त राष्ट्रपति निम्नलिखित समितियों (कमीशनों) की नियुक्त भी कर सकता है :—

निर्वाचन समिति, आर्थिक समिति, पिछड़े हुए क्षेत्रों और जातियों के शासन की सूचना के हेतु एक समिति, पिछड़े हुए वर्गों की सुरक्षा के हेतु एक समिति और भाषा समिति।

(व) नियम-निर्माण सम्बन्धी अधिकार

विभिन्न कार्यों के सम्पादन के हेतु भी उसे नियम निर्माण के अत्यन्त व्यापक अधिकार प्राप्त हैं। इनमें सबसे अधिक मुख्य है भारत सरकार के कार्य के सुविधा पूर्ण संचालन के हेतु नियम निर्माण तथा उस कार्य के संचालन के हेतु मन्त्रियों में विभागों का वितरण। प्रथम नामावली के भाग 'स' और 'द' में उद्धृत केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्रों का शासन प्रबन्ध राष्ट्रपति चीफ कमिश्नर अथवा उप-राज्यपाल (Lieutenant Governor) द्वारा करेगा। इन दोनों पदाधिकारियों की नियुक्ति भी उसी के द्वारा होगी। भाग 'स' में उल्लिखित राज्यों का शासन प्रबन्ध वह किसी पड़ोसी राज्य की सरकार द्वारा करेगा।

(२) संसद और व्यवस्थापन सम्बन्धी अधिकार

राष्ट्रपति संसद का एक अनन्य भाग है जो इस देश की सर्वोच्च व्यवस्थापक संस्था है। संसद और व्यवस्थापन के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हैं :—

(अ) संसद के निर्माण से सम्बन्धित अधिकार

हमारी संसद में दो भवन हैं : प्रथम भवन लोकसभा कहलाती है और द्वितीय भवन राज्य परिषद्। राष्ट्रपति राज्य परिषद् में बारह ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति करेगा जो साहित्य, विज्ञान, कला और समाज सेवा से सम्बन्धित विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव रखते हों। इस के अतिरिक्त लोक सभा में वह एंग्लो-इण्डियन जाति के दो सदस्य नियुक्त कर सकता है यदि उसे यह प्रतीत हो कि उस जाति को भवन में पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है। यदि राज्य परिषद् के सभापति और उप-सभापति अथवा लोक सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के दोनों एक साथ रिक्त होते हैं तो राष्ट्रपति उस भवन के एक सदस्य को सभापति पद का कार्य सँभालने के लिए नियुक्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रपति निर्वाचन समिति की सम्मति द्वारा यह निर्णय करेगा कि संसद का कोई सदस्य विधान द्वारा प्रतिपादित सदस्यता की योग्यताओं के आधार पर अयोग्य सिद्ध होता है अथवा नहीं। राष्ट्रपति व्यवस्थापक कार्यप्रणाली के सुविधा जनक संचालन के हेतु भी नियम बना सकता है।

(ब) संसद को आमन्त्रित करने, स्थगित करने, विसर्जित करने और संसद में

भाषण सम्बन्धी अधिकार

राष्ट्रपति को संसद के एक अथवा दोनों भवनों की बैठक स्वयं द्वारा निश्चित समय अथवा स्थान पर आमन्त्रित करने का अधिकार है। राष्ट्रपति का यह अधिकार विधान की एक धारा द्वारा सीमित कर दिया गया है। उस धारा के अन्तर्गत यह प्रतिपादित किया गया है कि एक वर्ष में संसद की कम से कम दो बैठक आवश्यक

हो जानी चाहिए, और इनके प्रथम अधिवेशन की अन्तिम बैठक और आगामी अधिवेशन की प्रथम बैठक के मध्य का समय ६ मास से अधिक नहीं होना चाहिए। राष्ट्रपति को संसद की बैठक को कुछ काल के लिए स्थगित करने का अधिकार प्राप्त है। यदि राष्ट्रपति यह आवश्यक समझे तो वह लोकसभा को उसकी अवधि समाप्त होने से पूर्व ही विसर्जित कर सकता है। राष्ट्रपति संसद के किसी भवन अथवा दोनों भवनों की संयुक्त बैठक में भाषण दे सकता है। इंग्लैंड के सम्राट के समान संसद के प्रत्येक अधिवेशन के आरम्भ में राष्ट्रपति दोनों भवनों की संयुक्त बैठक में भाषण देता है। इसके अतिरिक्त वह संसद के किसी भवन को किसी विषय के सम्बन्ध में कुछ सुझाव भेज सकता है कि वह भवन उन पर विचार करे। इस प्रकार भेजे गए सुझावों पर भवन विचार करने के लिए बाध्य है और वह भी जितना शीघ्र हो सके।

(स) भवनों की संयुक्त बैठक आमन्त्रित करने के अधिकार

आय प्रस्ताव के अतिरिक्त किसी अन्य प्रस्ताव पर विचार करने के हेतु राष्ट्रपति संसद के दोनों भवनों की एक संयुक्त बैठक आमन्त्रित कर सकता है यदि वह प्रस्ताव एक भवन द्वारा पास कर दिया गया हो और दूसरे भवन ने उसे अस्वीकृत कर दिया हो अथवा दोनों भवन उस प्रस्ताव से सम्बन्धित संशोधनों पर सहमत न हों अथवा दूसरे भवन द्वारा उस प्रस्ताव को प्राप्त किए हुए ६ मास से अधिक समय व्यतीत हो गया हो और वह प्रस्ताव पास न किया गया हो।

(द) व्यवस्थापक प्रस्तावों से सम्बन्धित अधिकार

संसद द्वारा स्वीकृत कोई प्रस्ताव उस समय तक एकट का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता जब तक कि राष्ट्रपति उसके सम्बन्ध में अपनी स्वीकृति प्रदान न करदे। आय प्रस्ताव के अतिरिक्त अन्य प्रस्तावों के सम्बन्ध में उसे अपनी अस्वीकृति प्रदान करने का भी अधिकार है। इस प्रकार अस्वीकृत किए गए प्रस्तावों को वह पुनः भवनों के विचारार्थ भेज देगा। इसके साथ साथ वह उन प्रस्तावों के सम्बन्ध में संशोधन भी उपस्थित कर सकता है। यदि वह प्रस्ताव संसद द्वारा पुनः स्वीकृत कर दिया जात है तो राष्ट्रपति उस के सम्बन्ध में अपनी स्वीकृति प्रदान करने के लिए बाध्य है। इस प्रकार व्यवस्थापक प्रस्तावों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को एक प्रकार का अस्थायी निषेधाधिकार प्राप्त है। लोक सभा में किसी प्रकार के अनुदान की माँग का प्रस्ताव राष्ट्रपति की स्वीकृति बिना उपस्थित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार समस्त आय प्रस्ताव एवं आर्थिक प्रस्तावों के सम्बन्ध में भी यह निश्चित कर दिया गया है कि इन प्रस्तावों को संसद में उपस्थित करने से पूर्व राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है।

(क) ऑर्डिनेन्स घोषित करने का अधिकार

राष्ट्रपति को ऑर्डिनेन्स लागू करने का अधिकार भी प्राप्त है। यह ऑर्डिनेन्स उसी समय लागू किए जा सकते हैं जब संसद का अधिवेशन न हो रहा हो और उ

समय किसी आकस्मिक घटना एवं परिस्थिति के जन्म के कारण राष्ट्रपति को यह प्रतीत हो कि व्यवस्थापन अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार घोषित किए गए ऑर्डिनेन्स संसद के अधिवेशन के आरम्भ होने के दिनांक से ६ सप्ताह के समय में नष्ट हो जाएंगे। इस प्रकार के ऑर्डिनेन्स का संसद के दोनों भवनों के सम्मुख उपस्थित किया जाना अनिवार्य है। कोई ऑर्डिनेन्स इस अवधि के पूर्व भी समाप्त हो सकता है यदि संसद इस आशय का प्रस्ताव स्वीकृत कर दे।

(३) सर्वोच्च न्यायालय और न्याय से सम्बन्धित अधिकार

यद्यपि हमारा विधान मान्टेस्क्यू (Montesquieu) के 'शक्ति पृथक्करण' (Separation of Powers) के सिद्धान्त पर निर्मित नहीं हुआ है, फिर भी हमारे विधान के अंतर्गत न्यायालय की स्वतन्त्रता का समर्थन किया गया है। और इसलिए न्याय प्रबन्ध में राष्ट्रपति को प्रत्यक्ष हस्तक्षेप का अधिकार प्रदान नहीं किया गया है। फिर भी, अन्य न्यायाधीशों की सम्मति से वह सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करेगा। समय-समय पर देहली के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना के सम्बन्ध में भारतवर्ष के प्रधान न्यायाधीश को राष्ट्रपति की स्वीकृति लेनी होगी। इसके अतिरिक्त न्यायालय की कार्य व्यवस्था से सम्बन्धित सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निर्मित नियमों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक होगी (यह नियम संसद के कानून अथवा नियमों के विरोध में न होंगे तथा इनके आधीन होंगे)। लोकहित सम्बन्धी किसी अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय के सम्बन्ध में राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से सम्मति भी ले सकता है। इसके अतिरिक्त किसी ऐसी सन्धि अथवा समझौते के सम्बन्ध में भी राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से सम्मति ले सकता है जो किसी ऐसे राज्य से की गई हो जो पूर्व समय में किसी देशी नरेश का राज्य था।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति को जमा प्रदान करने, प्राण दण्ड को कुछ काल के लिए स्थगित करने, दण्ड में कुछ विलम्ब करने अथवा दण्ड की आज्ञा को स्थगित करने का अधिकार प्राप्त है। वह किसी ऐसे व्यक्ति के दण्ड को कम तथा परिवर्तित कर सकता है जिस पर निम्नलिखित से सम्बन्धित किसी अभियोग का दोषारोपण किया गया हो :—

(अ) जब यह दण्ड व्यवस्था कोर्ट मार्शल द्वारा निर्देशित हो;

(ब) जब दण्ड की व्यवस्था उस विषय के सम्बन्ध में की गई हो जो संघ की कार्यकारिणी शक्ति के क्षेत्र के अंतर्गत हो; और

(स) जब प्राण दण्ड की व्यवस्था की गई हो।

उपर्युक्त से सम्बन्धित किसी भी विषय में राष्ट्रपति अपने इन अधिकारों का प्रयोग कर सकता है।

(४) आय से सम्बन्धित अधिकार

राष्ट्रपति संसद के दोनों भवनों के सन्मुख अनुमानित आय-व्यय के वार्षिक व्योरे को उपस्थित करेगा । जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है कि कोई आय प्रस्ताव अथवा कोई अन्य आर्थिक प्रस्ताव अथवा कोई माँग राष्ट्रपति के पूर्व अनुग्रह बिन संसद के सन्मुख उपस्थित नहीं की जा सकेगी । इसी प्रकार भारतवर्ष के संचित धन से सम्बन्धित किसी व्यय की माँग को संसद केवल राष्ट्रपति के अनुग्रह पर ही स्वीकृत करेगी । “आकस्मिक घटना सम्बन्धित धन” भी राष्ट्रपति को पूर्ण रूप से सौंप दिया जाता है जिससे कि वह आकस्मिक घटना अथवा अलक्षित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसमें से धन ले सके ।

(५) पिछड़े हुए वर्गों से सम्बन्धित अधिकार

राष्ट्रपति किसी राज्य के राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के साथ परामर्श करके दलित वर्ग और पिछड़े हुए वर्ग निश्चित करेगा जिनके सम्बन्ध में विधान के अन्तर्गत कुछ विशेष धाराएँ प्रस्तुत की गई हैं । विधान के अन्तर्गत इन जातियों और वर्गों के हेतु प्रस्तावित सुरक्षा की पूर्णता की छान-बीन के लिए राष्ट्रपति एक विशेष पदाधिकारी की नियुक्ति करेगा । पिछड़े हुए वर्ग और क्षेत्रों के हित तथा शासन से सम्बन्धित सूचना प्राप्त करने के हेतु राष्ट्रपति एक समिति (कमीशन) की नियुक्ति कर सकता है । दलित वर्ग तथा पिछड़े हुए वर्गों की दशा को जानने और उससे भली प्रकार परिचित होने के हेतु राष्ट्रपति एक अन्य समिति (कमीशन) की नियुक्ति कर सकता है ।

(६) राज्यों से सम्बन्धित अधिकार

यह संघ केवल विभिन्न राज्यों का संघ मात्र है और राष्ट्रपति इस संघ का अध्यक्ष है, इसलिए विभिन्न राज्यों के सम्बन्ध में भी राष्ट्रपति को कुछ अधिकार प्रदान किए गए हैं जो संक्षेप में निम्नलिखित हैं :—

(अ) नियुक्ति सम्बन्धी अधिकार

किसी राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होगी और उसी के प्रति विश्वासी रह कर वह अपने पद पर आसीन रह सकेगा । यदि कोई आकस्मिक घटना घटित हो जाती है तो राज्यपाल के कार्यों के सम्पादन के हेतु राष्ट्रपति ही प्रबन्ध करेगा ।

(ब) व्यवस्थापन सम्बन्धी नियन्त्रण

किसी राज्य का राज्यपाल राज्य की व्यवस्थापिका सभा के किसी प्रस्ताव को राष्ट्रपति की स्वीकृति के हेतु सुरक्षित रख सकता है । कुछ विषयों से सम्बन्धित प्रस्तावों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखना राज्यपाल के लिए अत्यन्त आव-

शुद्ध है। इस प्रकार के प्रस्तावों में कुछ मुख्य प्रस्ताव हैं जैसे हाई कोर्ट के अधिकारों को कम करने, अथवा संसद द्वारा घोषित जीवन के लिए अनिवार्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कर लगाने के सम्बन्ध में, आदि। इन प्रस्तावों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति-अस्वीकृति प्रदान कर सकता है अथवा इन प्रस्तावों को राज्यपाल द्वारा व्यवस्थापिका सभा के विचारार्थ भेज सकता है। एकीभूत तालिका में उद्धृत किसी विषय के सम्बन्ध में निर्मित किसी राज्य का कानून यदि संघीय कानून के विरोध में हो, और यदि राज्य के उस कानून को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखा जाए और उसे यह स्वीकृति प्रदान हो जाए तो राज्य का कानून वैध घोषित किया जायगा।

(स) राष्ट्रपति के निर्देशक सिद्धान्त

राष्ट्रपति किसी राज्य की सरकार को किसी ऐसे विषय से सम्बन्धित कुछ विषय सौंप सकते हैं जो साधारण रूप से संघ की कार्यकारिणी के क्षेत्र के अन्तर्गत हो। यह कार्य उस राज्य की सरकार की समिति द्वारा ही किया जा सकेगा। विभिन्न राज्यों में एकता की भावना के विकास तथा पारस्परिक वैमनस्य को नष्ट करने के हेतु राष्ट्रपति एक अन्तराज्य समिति की स्थापना भी कर सकता है।

(द) राज्य की आय से सम्बन्धित नियन्त्रण

राज्य की आय के सम्बन्ध में भी राष्ट्रपति को कुछ अधिकार प्रदान किए गए हैं। प्रथम नामावली के भाग 'अ' और 'ब' में उद्धृत राज्यों के कर सम्बन्धी आय तथा सहायक अनुदान के वितरण के सम्बन्ध में उसे अनेक अधिकार प्राप्त हैं। प्रथम, जिस प्रस्ताव द्वारा किसी ऐसे कर पर आघात होता हो, जिसमें राज्य भी रुचि रखते हों, उस प्रस्ताव को संसद में उपस्थित करने के लिए राष्ट्रपति के पूर्व अनुग्रह की आवश्यकता होती है। इस सम्बन्ध में सबसे प्रथम एक आर्थिक समिति का निर्माण किया जाता है। इस समिति की रिपोर्ट पर विचार करके राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा (१) राज्यों की कृषि सम्बन्धी आय के अतिरिक्त अन्य आय पर करों का विभाजन नियत कर सकता है, और (२) इस प्रकार के अनुदान नियत कर सकता है जो जूट और जूट से उत्पादित वस्तुओं पर लगाए गए निर्यात कर के बदले में हों और जो आसाम, बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल के राज्यों को देने हों। इस सम्बन्ध में जब तक संसद किसी कानून का निर्माण न कर दे, उस समय तक राष्ट्रपति (यदि आर्थिक समिति की स्थापना हो चुकी हो तो उससे परामर्श लेकर) कुछ राज्यों को प्रति वर्ष विशेष अनुदान प्रदान करने की व्यवस्था कर सकता है जो भारतवर्ष के संचित धन से लिए जाएँ। प्रथम नामावली के भाग 'ब' में उद्धृत राज्यों के साथ हुए आर्थिक विषयों से सम्बन्धित किसी समझौते को इस विधान के लागू होने के दिनांक से पाँच वर्ष पश्चात् किसी

समय परिवर्तित करने तथा समाप्त करने का अधिकार भी राष्ट्रपति को प्राप्त है। वह ऐसा उस समय करेगा जब आर्थिक समिति की रिपोर्ट पर विचार करने के पश्चात् उसे यह आवश्यक प्रतीत हो।

(ब) असाधारण परिस्थिति में राष्ट्रपति के अधिकार

उपर्युक्त पृष्ठों में राष्ट्रपति के उन अधिकारों का विवेचन किया गया है जो उसे सामान्य परिस्थितियों में प्राप्त हैं। इनके अतिरिक्त असाधारण परिस्थितियों के सम्बन्ध में उसे अनेक व्यापक अधिकार प्रदान किए गए हैं। यह परिस्थितियाँ अथवा यह संकट कालीन अवस्था हमारे विधान के अन्तर्गत तीन शीर्षकों में विभाजित की गई हैं जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) युद्ध अथवा आक्रमण अथवा आंतरिक अशान्ति से सम्बन्धित संकटकालीन अवस्था

यदि राष्ट्रपति को यह अनुभव हो कि युद्ध अथवा बाह्य आक्रमण अथवा आंतरिक अशान्ति के कारण भारतवर्ष अथवा उसके किसी एक भाग की शान्ति और सुरक्षा के नष्ट होने का भय है तो इस प्रकार की परिस्थिति के यथार्थ रूप में प्रकट होने के पूर्व ही राष्ट्रपति संकटकालीन अवस्था की घोषणा कर सकता है। इस प्रकार की घोषणा संसद के दोनों भवनों के सन्मुख उपस्थिति की जाएगी और यदि उन भवनों के द्वारा यह स्वीकृत न हुई तो दो मास पश्चात् यह समाप्त हो जाएगी। इस घोषणा के लागू रहने के समय में राष्ट्रपति किसी राज्य की सरकार को उसके कार्यकारिणी सम्बन्धी कार्य के संचालन के हेतु आदेश प्रदान कर सकता है। इसके अतिरिक्त, इस अवधि के अन्तर्गत, राष्ट्रपति को निम्नलिखित को स्थगित करने का अधिकार होगा :—

(अ) किसी मौलिक अधिकार को लागू करने के लिए किसी न्यायालय से प्रार्थना करने का अधिकार; और

(ब) उन धाराओं का प्रयोग जिनका सम्बन्ध केन्द्र और राज्यों में आय के वितरण से हो।

(२) राज्यों की वैधानिक प्रणाली के असफल होने से सम्बन्धित संकटकालीन अवस्था

एक घोषणा द्वारा राष्ट्रपति किसी भी राज्य के एक अथवा समस्त कार्यों को अपने अधिकार में कर सकता है; यह घोषित कर सकता है कि राज्य की व्यवस्थापिका सभा के अधिकार संसद द्वारा प्रयोग किए जाएँगे और हाई कोर्ट के अतिरिक्त राज्य के अन्य समस्त पदाधिकारियों से सम्बन्धित विधान की किसी धारा को कुछ काल के लिए स्थगित कर सकता है। यह सब कुछ राष्ट्रपति उसी समय करेगा जब किसी राज्य का

राज्यपाल अथवा राजप्रमुख उसे यह सूचना देगा कि कुछ आकस्मिक एवं असाधारण परिस्थितियों के कारण उस राज्य की सरकार का संचालन विधान की धाराओं के अनुसार नहीं किया जा सकता। राष्ट्रपति इस प्रकार की घोषणा उस समय भी लागू कर सकता है जब संघ की किसी धारा के अन्तर्गत अपनी कार्यकारिणी शक्ति के प्रयोग में संघ ने जो आदेश राज्य की कार्यकारिणी को दिए हों और वह उनका पालन न कर पाई हो। इस सम्बन्ध में भी यह घोषणा दो मास की अवधि के पश्चात् समाप्त हो जाएगी यदि इसे व्यवस्थापिका सभा के दोनों भवनों द्वारा स्वीकृत न किया गया। परन्तु यदि संसद इस घोषणा को स्वीकृत करदे तो यह घोषणा ६ मास के लिए और लागू रहेगी। संकटकालीन अवस्था की घोषणा प्रत्येक दश में तीन वर्ष से अधिक स्थायी नहीं रहेगी।

(३) आर्थिक संकटकालीन अवस्था

यदि राष्ट्रपति को यह प्रतीत हो कि किसी आकस्मिक परिस्थिति के कारण भारतवर्ष की आर्थिक साख अथवा स्थायित्व के नष्ट होने का भय है तो यह इस आशय की घोषणा कर सकता है। इस घोषणा के अन्तर्गत भी राष्ट्रपति किसी भी राज्य की सरकार को संघ द्वारा प्रतिपादित आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी नियमों के पालन का आदेश दे सकता है। इन आदेशों के अन्तर्गत इस प्रकार के आदेश भी सम्मिलित हैं जैसे कि राज्य के कर्मचारियों के वेतन तथा भत्ते में कमी तथा यह व्यवस्था कि राज्य के समस्त आय प्रस्ताव तथा आर्थिक प्रस्ताव व्यवस्थापिका सभा के दोनों भवनों द्वारा स्वीकृत होने पर राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए अवश्य सुरक्षित रखे जाएँ। इस प्रकार की परिस्थिति में राष्ट्रपति संघ के कर्मचारियों तथा सर्वोच्च न्यायालय और हाईकोर्ट के न्यायाधीशों के वेतन तथा भत्ते में कमी कर सकता है। इस घोषणा की अवधि भी उपर्युक्त दोनों घोषणाओं के समान होगी।

संकटकालीन अवस्था सम्बन्धी अधिकारों की आलोचना

यहाँ यह ध्यान में रखना उचित है कि राष्ट्रपति के इन अधिकारों पर प्रहार भी हुए हैं और इनका पक्ष भी ग्रहण किया गया है।

इन अधिकारों के समर्थकों में श्री. आर० के० सिन्हा, श्री. अलादी स्वामी अय्यर और डाक्टर अम्बेदकर मुख्य हैं। इन अधिकारों का समर्थन करते हुए इन विद्वानों का कहना है कि दो महायुद्धों ने मनुष्य जाति को यह शिक्षा प्रदान की है कि जनता की स्वतन्त्रता और उसके अधिकारों के हित के लिए राज्य का अस्तित्व स्थापित रखना अत्यन्त आवश्यक है। राज्य जनता के अधिकार और उसकी स्वतन्त्रता का मुख्य संरक्षक है। इस कारण राज्य की स्वतन्त्रता और उसके जीवन की रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है भले ही इससे व्यक्तियों के अधिकार और स्वतन्त्रता पर अस्थायी आघात

पहुँचे अथवा उनमें कुछ साधारण ऊँच नीच हो जाए। अन्त में नागरिकों को ही इससे लाभ की प्राप्ति होगी क्योंकि राज्य की सुरक्षा में ही नागरिकों के अधिकार और उनकी स्वतन्त्रता की सुरक्षा निहित है। उनका कथन है कि यदि एक अस्थायी काल के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को स्थगित कर दिया जाए, तो इसका अर्थ प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्त का पूर्ण एवं स्थायी बहिष्कार नहीं लगा लेना चाहिए।

आलोचकों में प्रोफेसर के. टी. शाह और श्री. एच. वी. कमठ का नाम लिया जा सकता है। श्री. कमठ ने एक स्थल पर लिखा है कि संकटकालीन अवस्था सम्बन्धी धारा द्वारा :

“हम एक निरंकुश राज्य एक पुलिस राज्य की नींव रखने का प्रयत्न कर रहे हैं—जो उन सिद्धान्तों का पूर्ण रूप से विरोध करता है जिन्हें हमने कुछ पिछले वर्षों में उठाए रखा है।”^१

यदि इन दो विरोधी दृष्टिकोणों के मध्य का मार्ग भी ग्रहण किया जाए तो अमरनन्दी के इस कथन का समर्थन करना ही पड़ता है कि संकट कालीन अवस्था सम्बन्धी अधिकार राष्ट्रपति के “हाथों में एक इस प्रकार की भरी हुई गन है जिसका प्रयोग नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा करने और उसे नष्ट करने दोनों के लिए ही किया जा सकता है।”^२

इन अधिकारों के मुख्य दोषों का विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

प्रथम, विधान के अन्तर्गत कोई इस प्रकार की धारा प्रस्तावित नहीं की गई है कि मंत्रि परिषद् की सम्मति द्वारा ही राष्ट्रपति इन अधिकारों का प्रयोग करेगा। इस सम्बन्ध में उसे अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी और इस सम्बन्ध में वह मन्त्रियों के नियन्त्रण से मुक्त होगा। यह कम से कम उस समय तक के लिए तो कहा ही जा सकता है जब तक संसद उसके इन अधिकारों को समाप्त न कर दे।

द्वितीय, जैसा कि कहा गया है, यदि राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों की सम्मति से इन अधिकारों का प्रयोग करे तो निरंकुश राज्य की सम्भावना और भी बढ़ जाती है।

1. We are seeking to lay the foundation of a totalitarian state—a police state— completely opposed to all principles that we have held aloft during the last few decades.” —Sri H. V. Kamath.

2. “The emergency powers leave in the hands of the President is a “loaded gun which can be used both to protect and destroy the liberty of citizens.” —Amarnandi.

इस दशा में यह निरंकुश राज्य होगा बहुमत दल के आधीन और प्रधान मन्त्री इसका तानाशाह होगा। प्रधान मन्त्री, लोक सभा में अपने बहुमत के कारण इस प्रकार की घोषणाओं को स्वीकृत करा सकता है और इस प्रकार जनता के अधिकारों और उसकी स्वतन्त्रता के साथ खिलवाड़ कर सकता है। इस प्रकार भारतवर्ष का प्रजातन्त्र निरंकुश राज्य अथवा तानाशाही में परिवर्तित किया जा सकता है।

तृतीय, इन अधिकारों की व्यवस्था में एक अत्यन्त दोषपूर्ण बात यह है कि विधान द्वारा राष्ट्रपति को यह आदेश प्रदान नहीं किया गया है कि वह इन घोषणाओं को संसद के सन्मुख तुरन्त उपस्थित करे। और इस प्रकार इस बात से वह कुछ समय प्राप्त कर शक्ति को अपने हाथों में इतना केन्द्रित कर ले कि उसे उससे वंचित न किया जा सके। और इस दो मास के समय में वह अपने व्यक्तित्व के प्रभाव द्वारा निरंकुशता की सीमा तक पहुँच सकता है। इसके विपरीत यहाँ यह ध्यान में रखना उचित होगा कि इंग्लैंड के सन् १९२० के ब्रिटिश संकटकालीन अवस्था सम्बन्धी अधिकार एक्ट (British Emergency Powers' Act of 1920) के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया है कि इस प्रकार की घोषणा घोषित किए जाने के दिनांक से पाँच दिन के समय में पार्लियामेंट के सन्मुख उपस्थित की जाएगी, और यदि पार्लियामेंट ने इसे अस्वीकृत कर दिया तो पार्लियामेंट में उपस्थित करने के दिनांक से सात दिन के पश्चात् यह घोषणा समाप्त हो जायगी। इस प्रकार की घोषणा के लागू रहने के लिए पार्लियामेंट की स्वीकृति आवश्यक है। विमर गणतन्त्र (Weimer Republic) जैसे तानाशाह राज्य में भी यह कानून था कि इस प्रकार की घोषणा जर्मन पार्लियामेंट के सन्मुख तुरन्त उपस्थित होनी चाहिए।

चतुर्थ, विधान को संकटकालीन अवस्था सम्बन्धी धाराओं का एक अनौचित्य यह भी है कि मौलिक अधिकारों के स्थगित किए जाने के सम्बन्ध में शान्ति काल और युद्ध काल में कोई अन्तर नहीं किया गया है। इस प्रकार की घोषणा बाह्य आक्रमण और आन्तरिक अशान्ति दोनों अवस्थाओं में की जा सकती है और वह भी उस परिस्थिति के जन्म लेने से पूर्व राष्ट्रपति की इच्छानुसार ही। इस संबंध में राष्ट्रपति का निर्णय ही अन्तिम होगा।

अन्तिम, इन धाराओं का अत्यधिक दोष इस बात में है कि इस प्रकार की परिस्थिति में अत्याचार अथवा अन्याय होने पर न्याय की किसी ऐसी संस्था का उल्लेख नहीं जिससे इस सम्बन्ध में प्रार्थना की जा सके। इस प्रकार की परिस्थिति में मन्त्रिमण्डल न्यायालय का स्वरूप भी ग्रहण कर लेगा क्योंकि न्यायालय को यह निरीक्षण करने का अधिकार नहीं होगा कि यह परिस्थितियाँ क्या वास्तव में इस प्रकार की हैं कि मौलिक अधिकारों को स्थगित कर दिया जाए। यह बड़ी विचित्र बात है, जैसा कि

एक आलोचक ने कहा है, इस प्रकार की अवस्था के अन्तर्गत केन्द्र का, जिसका नेता मन्त्रिमण्डल होगा—जो एक प्रकार से बहुतमतदल के नेताओं की समिति ही है—अर्थ केवल केन्द्रीय कार्यकारिणी नहीं होगा, केवल केन्द्रीय संसद नहीं होगा, बल्कि इसका अर्थ केन्द्रीय न्यायालय भी होगा। इसका अर्थ यह है कि मन्त्रिमण्डल एक निरंकुश राज्य का अध्यक्ष होगा, और इसी में राज्य की व्यवस्थापक, कार्यकारिणी तथा न्याय शक्ति निहित होगी। यदि हमारे विधान निर्माताओं ने यह व्यवस्था की होती कि इस प्रकार की संकटकालीन अवस्था में सर्वोच्च न्यायालय अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत कार्य करेगा और अमरीका के समान वही मौलिक अधिकारों का संरक्षक होगा, तो उत्तम होता। अमरीका में न्यायालय इस बात को स्वीकृत करता है कि संकटकालीन अवस्था में राज्य को पुलिस की अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है। इसलिए शासन तथा व्यवस्थापन सम्बन्धी ऐसे कार्यों का भी न्यायालय द्वारा समर्थन किया जाता है जो शान्ति काल में किसी प्रकार भी सम्पन्न नहीं हो सकते थे। उदाहरण स्वरूप सन् १९१७-१८ के एस्पियोनेज और सेडिशन एक्ट (Espionage and Sedition Acts of 1917-18); अथवा एक सेना के निर्माण के लिए व्यक्तियों को जबरदस्ती भरती करना, आदि। हमारे विधान निर्माताओं का वास्तविक दोष यही रहा कि संकटकालीन अवस्था के अन्तर्गत उन्होंने कार्यकारिणी को ही इस बात का निर्णायक भी बना दिया कि संकटकालीन अवस्था के अन्तर्गत पुलिस की शक्ति का प्रयोग किस स्थान पर तथा किन परिस्थितियों के अन्तर्गत किया जाए।

सारांश रूप सन् १८६८ में अमरीका में मिलीगन के मुकदमे के निर्णय के निम्नलिखित शब्दों को उद्धृत किया जा सकता है :—

“मानव की बुद्धि द्वारा इससे अधिक अपकारक परिणामों वाले सिद्धान्त का जन्म नहीं हुआ था कि सरकार की संकट कालीन अवस्था में इसकी (बिल ऑफ राइट्स की) धाराएँ भी स्थगित की जा सकें।”^१

उपसंहार

राष्ट्रपति और मन्त्रि-परिषद्

यदि राष्ट्रपति उपर्युक्त समस्त अधिकारों का प्रयोग वास्तविक रूप से करे तो कदाचित् उसके अधिकार इतने व्यापक और विस्तृत हो जाएँ कि देवता भी उससे ईर्ष्य

1. “No doctrine involving more pernicious consequences was ever invented by the wit of man, than that any of its (Bill of Rights) provisions can be suspended during any of the grave exigencies of the government.”
—From ex-parte-Miligan.

करें और कदाचित् इन महान अधिकारों का उपभोग करने के लिए वे भी इस पृथ्वी पर उतर आने के लिए लालायित हो उठें। परन्तु हमारे विधान निर्माताओं ने राष्ट्रपति को नाममात्र का अध्यक्ष रखा है, उसका कार्य सरकार की कार्यप्रणाली और देश की शोभा बढ़ाना ही है। विधान की धारा ७४ (१) के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया है कि मन्त्रि परिषद् राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्बन्ध में सहायता और सम्मति प्रदान करेगी। परन्तु भारतवर्ष की सरकार की प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली में इस बात की सम्भवना अधिक है कि राष्ट्रपति मन्त्रि परिषद् को उसके कार्य में सहायता और सम्मति प्रदान करेगा, और परिषद् राष्ट्रपति के अधिकारों का प्रयोग करेगी।

सैद्धान्तिक रूप में दोनों का सम्बन्ध

सैद्धान्तिक रूप से राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद् की सम्मति को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है। वह उनकी आज्ञाओं को ठुकरा सकता है। फ्रांस के चतुर्थ गणतन्त्र के विधान के समान हमारे विधान में भी यह व्यवस्था नहीं रखी गई है कि राष्ट्रपति के प्रत्येक कार्य पर किसी मंत्री अथवा प्रधान मंत्री के हस्ताक्षर होंगे तथा इस प्रकार के हस्ताक्षर के पश्चात् ही वह लागू हो पाएँगे। इस प्रकार राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद् की सहायता और सम्मति के बिना भी कार्य कर सकता है और कानून की कोई शक्ति उसे इससे नहीं रोक सकती। परन्तु राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद् की उपेक्षा भी नहीं कर सकता क्योंकि मन्त्रि-परिषद् की स्थापना विधान द्वारा हुई है।

हमारे विधान का एक अन्य दोष यह है कि आयरलैंड के विधान के समान इसमें यह प्रस्तावित नहीं किया गया है कि यदि एक मन्त्रि-मण्डल त्याग पत्र देता है, तो त्याग पत्र देने के पश्चात् भी वह उस समय तक कार्य करता रहेगा जब तक उसके उत्तराधिकारी अपना पद सँभाल न लें। इस धारा की अनुपस्थिति के कारण राष्ट्रपति निरंकुश हो सकता है। इस प्रकार इस धारा की अनुपस्थिति में कोई शक्ति ऐसी नहीं जो राष्ट्रपति को अन्य मन्त्रि मण्डल की नियुक्ति में विलम्ब करने से रोक दे। इस मध्यान्तर में उसके कार्य और कानूनों की वैधता का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि उसके कार्यों और कानूनों के सम्बन्ध में किसी मंत्री के हस्ताक्षर की आवश्यकता नहीं। इस समय में वह तानाशाह भी बन सकता है।

इसके अतिरिक्त प्रधान मंत्री की नियुक्ति में भी राष्ट्रपति पर इसके अतिरिक्त और कोई अन्य बंधन नहीं कि प्रधान मंत्री वह व्यक्ति होना चाहिए जो लोक सभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त कर सके। परन्तु एक ऐसा व्यक्ति भी ६ मास के लिए मंत्री पद पर रह सकता है जो किसी भवन का सदस्य न हो, और राष्ट्रपति को भी यह अधिकार है कि एक अधिवेशन की अन्तिम बैठक के दिनांक से ६ मास तक वह संसद् की बैठक आमन्त्रित न करे। इसलिए राष्ट्रपति चाहे तो एक ऐसे व्यक्ति को ६ मास

के लिए प्रधान मंत्री नियुक्त कर सकता है जो किसी भवन का सदस्य न हो तथा जो लोक सभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त न करता हो ।

इसके अतिरिक्त जब प्रधान मंत्री चाहेगा तब लोक सभा को विसर्जित करने के लिए राष्ट्रपति मना कर सकता है क्योंकि वह इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की धारा से बाध्य नहीं है । इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति किसी वैधानिक धारा द्वारा इस बात के लिए बाध्य नहीं है कि वह प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में मन्त्रि-परिषद् को सम्मति के अनुसार ही कार्य करेगा ।

व्यावहारिक रूप में दोनों का सम्बन्ध

व्यावहारिक रूप में मन्त्रि-परिषद् पर राष्ट्रपति का निर्भर रहना वास्तविक होगा । जो राष्ट्रपति अपने मंत्रियों की सम्मति को ठुकराता है वह वास्तविक रूप से लोक सभा के क्रोध की ज्वाला को ही प्रज्वलित करता है और इसका यह परिणाम हो सकता है कि लोक सभा उसे किसी अन्य मन्त्रि-मण्डल का निर्माण ही न करने दे । इसलिए अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत कार्य करने के पूर्व राष्ट्रपति इस बात को इस बार सोचेगा, यद्यपि विधान द्वारा वह मंत्रियों की सम्मति को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है । इस प्रकार वास्तव में राष्ट्रपति के अधिकारों का प्रयोग मन्त्रि-परिषद् ही करेगी जो संसद के प्रति संयुक्त रूप से उत्तरदायी है । राष्ट्रपति के कार्यों के लिए मन्त्रि-परिषद् को संसद में उत्तरदायी जभी ठहराया जा सकता है यदि वह कार्य वास्तविक रूप से मन्त्रि मण्डल द्वारा किए गए हों । इस प्रकार राष्ट्रपति के अधिकार व्यावहारिक रूप में मन्त्रि-परिषद् के ही अधिकार होंगे । राष्ट्रपति वही करेगा जो उसके मंत्री चाहेंगे । वह एक ऐसा जीवित साधन है जिसके द्वारा मन्त्रि मण्डल की आकांक्षाएँ स्पष्ट की जाती हैं । इस प्रकार राष्ट्रपति केवल नाम मात्र का ही शासक होगा । वह राज्य का वास्तविक शासक न होगा । राजपद से रहित छाया रूप सम्राट के समान भारतीय राष्ट्रपति फ्रांस के राष्ट्रपति और इंग्लैंड के सम्राट के मूल रूप है, यद्यपि वह इन दोनों से अधिक प्रभावशाली है । संकटकालीन अवस्थाओं में जो महत्व भारतीय राष्ट्रपति का है वह इंग्लैंड अथवा फ्रांस के शासनाध्यक्षों का नहीं । किसी को यह अनुमान नहीं लगा लेना चाहिए कि भारतवर्ष का राष्ट्रपति केवल “एक वैभवपूर्ण शून्य” के समान ही होगा । उसके आधारों का स्वरूप भले ही असत्य वास्तविकता हो, परन्तु उसका प्रभाव नगण्य नहीं होगा । “राष्ट्रपति-पद वही होगा जो राष्ट्रपति इसे बनाएँगे ।”

यह सत्य है कि राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों की सम्मति के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकेगा । परन्तु इसके विपरीत यह भी सत्य है कि मन्त्रि-परिषद् भी राष्ट्रपति की स्वीकृति बिना कार्य नहीं कर सकेगी । विधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति को मन्त्रि

परिषद् से पृथक् व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। उसका स्थान प्रथम है, मन्त्रि-परिषद् का स्थान उसके पश्चात् है और वह भी एक परामर्शदाता का। इसलिए मन्त्रि-परिषद् राष्ट्रपति को असहाय्यता अथवा आधीनता की दशा तक नहीं पहुँचा सकती। दोनों को एक वाहन के दो पहियों के समान कार्य करना होगा—एक की अनुपस्थिति में दूसरे का महत्व नहीं।

उपराष्ट्रपति

विधान की धारा ६३ द्वारा प्रस्तावित किया गया है कि भारतवर्ष के लिए एक उपराष्ट्रपति की नियुक्ति की जाएगी। राष्ट्रपति की अनुपस्थिति में उपराष्ट्रपति उसका पद संभालेगा तथा उस पद से सम्बन्धित कार्यों का सम्पादन करेगा। उप-राष्ट्रपति राज्य परिषद् का पदाधिकृत सभापति होगा। उसका कार्यकाल पाँच वर्ष होगा। उपराष्ट्रपति का निर्वाचन संसद के दोनों भवनों के सदस्य अविभक्त हस्तान्तरित मत के आधार पर अनुरूप प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा करेंगे। निर्वाचन के पश्चात् वह संसद अथवा किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन का सदस्य नहीं रह सकेगा।

इस पद के सम्बन्ध में भी वही योग्यताएँ निर्धारित हैं जो राष्ट्रपति के पद के सम्बन्ध में हैं।

उपराष्ट्रपति अपने पद से त्यागपत्र भी दे सकता है। इसके अतिरिक्त उप-राष्ट्रपति को अयोग्यता अथवा अविश्वास के आधार पर राज्य-परिषद् के एक प्रस्ताव द्वारा पदस्थ भी किया जा सकता है। इस प्रकार का प्रस्ताव बहुमत द्वारा स्वीकृत तथा लोक सभा द्वारा स्वीकृत होना चाहिए। परन्तु इस प्रकार के प्रस्ताव के लिए चौदह दिन पूर्व की सूचना आवश्यक है। अपनी अवधि की समाप्ति पर भी उपराष्ट्रपति उस समय तक अपने पद पर आसीन रहेगा जब तक उसका उत्तराधिकारी अपने पद को संभाल न ले। उसकी अवधि समाप्त होने के पूर्व ही नवीन उपराष्ट्रपति का निर्वाचन किया जाएगा। यदि मृत्यु, त्यागपत्र, पदस्थ करने आदि के कारण यह पद रिक्त होता है तो शीघ्रातिशीघ्र इस सम्बन्ध में निर्वाचन की व्यवस्था की जाएगी। इस निर्वाचन के सम्बन्ध में स्थान रिक्त होने के दिनांक से ६ मास से अधिक समय नहीं लगना चाहिए। इस प्रकार निर्वाचित हुआ व्यक्ति पूरे पाँच वर्षों तक अपने पद पर आसीन रहेगा।

राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति को विधान के प्रति श्रद्धा की शपथ ग्रहण करनी होगी। शपथ के शब्द निम्न प्रकार से हैं :—

“कानून द्वारा स्थापित भारतवर्ष के विधान के प्रति मैं सत्य विश्वास और श्रद्धा का भाव रखूँगा, और जिस पद पर मैं आसीन होने वाला हूँ उस पद से सम्बन्धित कर्तव्यों को मैं पूर्ण निष्ठा के साथ निभाऊँगा।”

इस शपथ का उद्देश्य है राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के हृदय में विधान की धाराओं के प्रति एक मनोवैज्ञानिक श्रद्धा का विकास हो। परन्तु यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि किसी अन्तर्हित भाव के अनुकरण के लिए न होकर वह शपथ केवल बाह्य रूप को सन्तुष्ट करने को ग्रहण की जाती है। हमारे विधान में सचिवतन्त्रात्मक सरकार अर्थात् मन्त्रि-परिषद् के प्रति राष्ट्रपति के निर्भर रहने के सिद्धान्त को अन्तर्हित किया गया है; अतएव यह शपथ इस दिशा में कुछ विशेष रूप से सहायक न हो पाएगी।

सातवाँ अध्याय

प्रधान मन्त्री और मन्त्रिमण्डल

“मन्त्रि-परिषद् की आत्मा और हमारी सम्पूर्ण कार्य प्रणाली का केन्द्र बिन्दु मन्त्रिमण्डल (कैबिनेट) है। यह सर्वोच्च शासन सत्ताधारी है और जब तक लोकसभा में इसे बहुमत की सहायता प्राप्त होती रहेगी, (तब तक) लगभग अनुत्तरदायी अधिकार के साथ राष्ट्र की नीति का निर्देश यही करेगी।”^१

—रैमज़े म्योर

जो कुछ रैमज़े म्योर ने इंग्लैंड के मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में लिखा है वही भारतवर्ष के मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में भी सत्य है। एक सचिवतन्त्रात्मक सरकार में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। हमारे यहाँ यह यथार्थ रूप से कार्यों का सम्पादन करने वाली कार्यकारिणी है। केवल यही नहीं, मन्त्रिमण्डल एक अधिक विशाल संस्था—जनता की प्रतिनिधायक समिति का शिशु मात्र है जिसके प्रति यह अन्तिम रूप से उत्तरदायी भी है। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल आज्ञा पत्र में प्रतिपादित राजनैतिक सर्वोच्च सत्ता अर्थात् जनता की आकांक्षाओं तथा कल्पनाओं को साकार रूप प्रदान करने वाला साधन अथवा यन्त्र है। इसलिए सर जॉन मेरियट ने उचित ही लिखा है कि यह “वह केन्द्र बिन्दु है जिस पर सम्पूर्ण राजनैतिक कार्य प्रणाली घूमती है।”^२ हमारे विधान में प्रस्तावित मन्त्रि परिषद् की व्याख्या एक भारतीय ब्लैडस्टन ही इस प्रकार कर सकता है कि यह “सूर्य सम्बन्धी एक ऐसा चक्र है जिसके चारों ओर अन्य जीव विचरते हैं।”^३ मन्त्रिमण्डल एक केन्द्रीय संस्था

1. “The core of the Ministry and the pivot of our whole system is the cabinet. It is the supreme ruling body and so long it is supported by a majority in the house of Commons, it fixes the direction of national policy with practically irresponsible power.”

—Ramsay Muir.

2. “The pivot round which the whole political machinery revolves.”

—Sir John Marriot.

3. “The cabinet is “the solar orb round which the other bodies revolve.”

—Gladstone.

होती है इस कारण एक ओर तो इसका कार्य व्यवस्थापन में सुविधा प्रदान करना है और दूसरी ओर इसका कार्य सरकार के शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित कार्यों का सुविधा पूर्ण संचालन है। “यह”, जैसा कि बेगहोट ने लिखा है, “वह कड़ी है जो दो भागों को जोड़ती है, जो कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका सभा (इन दो) विभागों का गठ बन्धन करती है।”^१ यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यदि मन्त्रिमण्डल राज्य रूपी जहाज़ का चालक यन्त्र है तो प्रधान मन्त्री उसका चालक है। हमारे विधान की शब्दावली से एक सामान्य मनुष्य को एक यथार्थ एवं वास्तविक कार्य-कारिणी के रूप में मन्त्रिमण्डल के महत्त्व को समझना तथा हमारी सचिवतन्त्रात्मक व्यवस्था को चलायमान एवं गतिमान करने वाले संचालक के रूप में प्रधान मन्त्री के महत्त्व को समझना कठिन होगा। अंगरेज़ी विधान के समान हमारे विधान में भी एक बड़ी विचित्र एवं अद्भुत विशेषता के दर्शन होते हैं—और वह यह है कि यथार्थ एवं वास्तविक कार्यकारिणी अपने कार्यों का प्रदर्शन करने वाले घोषणा पत्र अथवा विज्ञापन को लेकर नहीं चलती। परन्तु यह सत्य तो सब पर ज्ञात है कि सैद्धान्तिक शब्दावली में तो राज्य का प्रधान अर्थात् राष्ट्रपति ही है जो सर्वोच्च सत्ताधारी तथा सर्व शक्तिमान है, परन्तु व्यावहारिक रूप में शासन सम्बन्धी अधिकारों का मुख्य संरक्षक तथा शासन सम्बन्धी कार्य का महान संचालक मन्त्रिमण्डल ही है।

विधान के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया है कि “राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता तथा सगमति प्रदान करने के हेतु “एक प्रधान मन्त्री और एक मन्त्रि-परिषद् होगी।”^२ प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेंगे। प्रधान मन्त्री प्रथम भवन अर्थात् लोकसभा के बहुमत दल में से अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण करेगा। समस्त मन्त्री राष्ट्रपति के प्रति विश्वासी रह कर ही अपने पद पर आसीन रह सकेंगे। समस्त मन्त्री संयुक्त रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होंगे। यदि कोई मन्त्री संसद के किसी भवन का सदस्य नहीं है तो अपना पद ग्रहण करने के दिनांक से ६ मास के समय में उसे किसी एक भवन की सदस्यता प्राप्त कर लेनी चाहिए; यदि इसमें वह असफल सिद्ध होता है तो उसे अपना पद त्यागना पड़ेगा। मन्त्रियों का वेतन तथा भत्ता संसद द्वारा निश्चित किया जाएगा। प्रधान मन्त्री का यह कर्तव्य होगा संघ के कार्य तथा व्यवस्थापन के प्रस्तावों के सम्बन्ध में वह राष्ट्रपति को प्रत्येक प्रकार की सूचना देता रहे। राष्ट्रपति भी प्रधान मन्त्री से इस प्रकार की सूचना के सम्बन्ध में पूछ सकता है। यदि किसी एक विषय के सम्बन्ध में कोई मन्त्री

1. “It is the hyphen that joins the buckle, that binds the executive and legislative departments together.”

कुछ निर्णय कर लेता है और वह निर्णय मन्त्रि-परिषद् के सम्मुख विचारार्थ नहीं उपस्थित किया जाता तो राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री द्वारा इस प्रकार के निर्णय को मन्त्रि-परिषद् के सम्मुख उपस्थित करवा सकता है ।

मन्त्रि-परिषद् के कार्य

भारतवर्ष में प्रचलित सचिवतन्त्रात्मक सरकार के इस स्वरूप में वास्तव में राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल को सहायता और सम्मति प्रदान करेगा क्योंकि मन्त्रिमण्डल एक ऐसा प्रधान साधन है जिसके द्वारा राष्ट्रपति के अधिकार प्रयोग में लाए जा सकते हैं तथा राष्ट्रपति की नीति निर्धारित की जा सकती तथा उसका अनुसरण किया जा सकता है । इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि मन्त्रि-परिषद् को अपने कंधों पर महान उत्तरदायित्व का भार लेकर चलना होगा । इसके हाथों में अधिकारों का अथाह सागर होगा ।

इंग्लैंड की केबिनेट के सम्बन्ध में किसी ने यह उचित ही कहा है कि वर्तमान काल में केबिनेट पार्लियामेण्ट की सहायता तथा स्वीकृति से कानून-निर्माण करती है । व्यवस्थापक प्रस्तावों के सम्बन्ध में केबिनेट पार्लियामेण्ट पर अपना अधिकार रखती है । समस्त प्रकार के विषयों से सम्बन्धित प्रस्तावों को मन्त्रीगण उपस्थित करते हैं, उनकी व्याख्या करके उन्हें स्पष्ट करते हैं और उन प्रस्तावों के पास करने की आवश्यकता और अनिवार्यता पर बल देते हैं । “इंग्लैंड की पार्लियामेण्ट” जैसा कि ऑग और जिक ने लिखा है, “आलोचना में दृढ़ परन्तु प्राथमिकता एवं मौलिकता में अशक्त एवं निस्तेज है ।”¹

यही भारतवर्ष की मन्त्रि-परिषद् के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है, क्योंकि यहाँ भी मन्त्रि-परिषद् ही नीति निर्धारित करेगी तथा समस्त विभागों के कार्य का संचालन करेगी । समस्त महत्वपूर्ण व्यवस्थापक प्रस्ताव इसीके द्वारा उपस्थित किए जाएंगे और यही उनको पास कराने का प्रयत्न करेगी । जो प्रस्ताव सरकार की ओर से उपस्थित नहीं किया जाएगा उसका जीवित रहना कठिन ही नहीं असम्भव होगा । आय प्रस्तावों को उपस्थित करने के लिए भी राष्ट्रपति की स्वीकृति की आवश्यकता होती है, इसलिए जितने भी आय प्रस्ताव उपस्थित होंगे अधिकतर इसी ओर से होंगे । इस प्रकार आय-व्यय का वार्षिक ब्यौरा भी मन्त्रि-मण्डल ही तैयार करेगा । भारतवर्ष की विदेशी नीति का निर्धारण भी मन्त्रि-परिषद् द्वारा होगा । सारांश यह कि हमारी शासन-प्रणाली में मन्त्रि मण्डल प्रेरित तथा उत्साहित करने वाली शक्ति के समान होगा ।

¹ “Parliament in England is strong in criticism but in initiative it is weak.”
—Ogg and Zinc.

संयुक्त उत्तरदायित्व

जैसा विधान के अन्तर्गत प्रस्तावित किया गया है मन्त्रि-परिषद् लोक सभा के प्रति संयुक्त रूप से उत्तरदायी होगा। यह सिद्धांत प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था का, विशेष रूप से जहाँ इसका सचिवतन्त्रात्मक स्वरूप हो, मूल आधार होता है। 'संयुक्त उत्तरदायित्व' का अर्थ यही लिया जाता है कि एक मन्त्री की पराजय समस्त मन्त्रिमण्डल की पराजय मानी जाती है। कैबिनेट प्रणाली में मन्त्रियों के संगठन की भावना निहित होती है। अपनी नीति तथा कार्यों के विरुद्ध यह एक 'संयुक्त मोर्चा' बाँध कर कार्य करता है। संक्षेप में "संयुक्त उत्तरदायित्व" का तात्पर्य है कि यदि मन्त्रि मण्डल के एक मंत्री द्वारा कोई प्रस्ताव उपस्थित किया गया हो तो समस्त मन्त्रि मण्डल एक होकर उसका समर्थन करेगा भले ही अन्य मंत्री उस प्रस्ताव से सहमत न हों। जब मन्त्रि-मण्डल द्वारा कोई निर्णय दिया जाता है तो या तो उस निर्णय की रक्षा करने तथा उसका पक्ष ग्रहण करने के लिए मन्त्रिमण्डल को तत्पर रहना चाहिए अथवा उसे त्याग-पत्र देने को प्रस्तुत रहना चाहिए। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल एक इकाई के रूप में ढूँढ़ता-उतराता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत कोई मन्त्री सरकार की नीति अथवा कार्यक्रम के विरुद्ध अपनी सम्मति प्रकट नहीं कर सकता, और मन्त्रि-मण्डल में अपने सहयोगियों के साथ परामर्श करते हुए न वह किसी प्रकार का आश्वासन ही प्रदान कर सकता है। एक रीति अथवा प्रथा के रूप में यह लक्षित किया गया है कि मन्त्रि-मण्डल के समस्त सदस्य अपने सहयोगियों के कार्य अथवा पारस्परिक उत्तरदायित्व की रक्षा के हेतु एक आधार अथवा एक सुगठित एवं दृढ़ मोर्चा स्थापित करते हैं, चाहे इस कार्य में कितना ही भय अथवा संकट क्यों न हो। अपने सहयोगियों से लॉर्ड मेलबोर्न ने एक बार कदाचित् छिद्रान्वेषी के समान कहा था कि, "इस बात का कोई विशेष महत्त्व नहीं कि हम क्या कहते हैं, हमें कहनी चाहिए परन्तु हमें एक ही बात कहनी चाहिए।" ¹

संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धांत का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि कोई मन्त्री अपने पद का त्याग केवल इसीलिए नहीं करेगा कि उसने व्यक्तिगत रूप से कोई अपराध कर दिया है। अथवा इसका यह अर्थ नहीं कि मन्त्रिमण्डल किसी निर्णय सम्बन्धी दोष, कुशासन अथवा किसी मन्त्री द्वारा किए गए इसी प्रकार के कार्य का पक्ष लेगा। यदि एक अथवा एक से अधिक मन्त्रीगण व्यभिचार के दोषी पाए जाते हैं तो उनके कारण पूर्ण मन्त्रिमण्डल हानि अथवा दण्ड का भागी नहीं हो सकता। इस प्रकार की परिस्थिति में उसी मन्त्री को पद त्यागना पड़ेगा न कि समस्त मन्त्रिमण्डल को। अविवेक और कुआचरण गम्भीर दोष माने गए हैं, और इन दोषों से दूषित मन्त्री को अपना पद त्यागना पड़ेगा।

¹ "It does not much matter what we say, we must say, but we must say the same thing."
—Lord Melbourne.

प्रधान मन्त्री

भारतवर्ष का प्रधान मन्त्री इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री के पद का उत्कृष्टतम समरूप प्रदान करता है। भारतवर्ष की केबिनेट प्रणाली की सरकार के संतुलन में भारतवर्ष का प्रधान मन्त्री यदि इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री से भारी नहीं बैठता तो कम से कम सम तो अवश्य रहता है। उसके सम्बन्ध में प्रोफेसर के० टी० शाह ने लिखा है कि :—

“यह विधान प्रधान मन्त्री को एक प्रबल एवं प्रभाव-युक्त तानाशाह बना देगा।”^१

परन्तु इस शक्तिशाली अधिकारी की विचित्रता इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री के समान इसमें है जैसा कि एक बार ग्लेडस्टन ने लिखा था :

“इस व्यापक विश्व में कहीं भी ऐसा नहीं होता कि इतने महान् सत्त्व एवं वस्तु का प्रतिबिम्ब इतना तुच्छ एवं हीन हो, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसके पास इतने अधिक अधिकार हों, और नाम मात्र की पदवी और अधिकार के रूप में उन अधिकारों के प्रदर्शन के लिए नहीं के बराबर हो।”^२

यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि भारतवर्ष के प्रधान मन्त्री और इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री में यह समानताएँ होने हुए भी कुछ असमानताएँ भी हैं। इंग्लैंड में प्रधान मन्त्री के पद का विकास हुआ है, भारतवर्ष में इस पद का निर्माण किया गया है। हमारे विधान में यह प्रस्तावित किया गया है कि “एक मन्त्रि-परिषद् की स्थापना होगी जिसका अध्यक्ष प्रधान मन्त्री होगा।” इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमारे विधान के अन्तर्गत प्रधान मन्त्री को शासन प्रणाली में केवल एक कानूनी एवं वैध स्तर ही प्रदान नहीं किया गया, बल्कि मन्त्रि-परिषद् का अध्यक्ष कह कर इस पद के महत्त्व को और भी दिग्दर्शित कराया गया है।

नियुक्ति

विधान की धाराओं के अनुसार प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होगी। प्रधान मन्त्री और मन्त्रिमण्डल को संसद् के प्रथम भवन के प्रति संयुक्त रूप से उत्तरदायी रहना है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री के

1. “The constitution would make the Prime Minister a potential dictator.
—Prof. K. T. Shah.

2. “Nowhere in the wide world does so great a substance cast so small a shadow; nowhere is there a man who has so much power with so little to show for it in the way of formal title or prerogative.”

—Gladstone.

पद को उस व्यक्ति को सौंपेगा जो अपने भवन अर्थात् लोक सभा में बहुमत दल का नेता होगा ।

अधिकार और कर्तव्य

प्रधान मन्त्री के अधिकार और कार्यों की विवेचना निम्नलिखित रूप से की जा सकती है :—

(१) मन्त्रि-परिषद् के जीवन-मरण के मूल के रूप में

अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में प्रधान मन्त्री राष्ट्रपति को सम्मति प्रदान करेगा । सत्य तो यह है कि इस प्रकार वह अपने सहयोगियों को ही चुन लेगा । कानून के अनुसार मन्त्रियों में विभाग-वितरण करने का अधिकार राष्ट्रपति का है, परन्तु व्यावहारिक रूप में प्रधान मन्त्री ही इस कार्य का सम्पादन करेगा । प्रधान मन्त्री के पद में ही मन्त्रिमण्डल का संयुक्त उत्तरदायित्व निहित होता है । यदि प्रधान मन्त्री त्याग पत्र दे देता है, अथवा यदि उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दिया जाता है, तो समस्त मन्त्रि मण्डल तिनकों के महल के समान समाप्त हो जाता है । इस प्रकार मन्त्रि-परिषद् के जीवन और मरण के मूल तत्त्व प्रधान मन्त्री के व्यक्तित्व में ही निहित होते हैं ।

(२) व्यवस्थापक कार्य

राष्ट्रपति के सन्मुख प्रधान मन्त्री समस्त मन्त्रि मण्डल का प्रतिनिधित्व करेगा । संघ के शासन प्रबन्ध तथा व्यवस्थापक प्रस्तावों से सम्बन्धित मन्त्रि मण्डल के प्रत्येक निर्णय की सूचना राष्ट्रपति को देना प्रधान मन्त्री का ही कर्तव्य है । शासन प्रबन्ध और व्यवस्थापन के सम्बन्ध में राष्ट्रपति द्वारा माँगी गई सूचना को उस तक पहुँचाना भी प्रधान मन्त्री का ही कार्य है । यदि किसी विषय के सम्बन्ध में किसी मन्त्री ने कोई निर्णय दे दिया हो और यदि मन्त्रि-परिषद् में उस निर्णय पर विचार न हुआ हो तो राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री द्वारा उस निर्णय को मन्त्रि-परिषद् के समक्ष उसके हेतु उपस्थित करवा सकता है ।

(३) अन्य कार्य

इन कार्यों के अतिरिक्त प्रधान मन्त्री कुछ अन्य महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन भी करेगा । इन कार्यों का सम्बन्ध निम्नलिखित से होगा :

(अ) विदेशी नीति, लोकसभा के विसर्जन और संकट कालीन

अवस्था सम्बन्धी अधिकार के सम्बन्ध में

हूँ गल्लंड तथा अन्य देशों के समान प्रधान मन्त्री विदेशी विभाग के सम्बन्ध में विशेष ध्यान से काम लेगा । इस तथ्य का दिग्दर्शन भारतवर्ष के प्रथम प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने विदेशी राजनीति में रुचि पूर्ण भाग लेकर किया है । लोक

सभा को विसर्जित करने का अधिकार कानूनी रूप से राष्ट्रपति को प्राप्त है, परन्तु सचिवतन्त्रात्मक सरकार की प्रथा के अनुसार व्यावहारिक रूप में यह अधिकार प्रधान मन्त्री को ही प्राप्त होगा। इसी प्रकार कानून के अन्तर्गत संकट कालीन अवस्था सम्बन्धी अधिकार पूर्णरूप से राष्ट्रपति को प्रदान किए गए हैं, परन्तु व्यावहारिक रूप में इनका प्रयोग भी प्रधान मन्त्री ही करेगा। इन अधिकारों के यथार्थ एवं वास्तविक प्रयोग के कारण ही हमारा प्रधान मन्त्री अपने प्रकार का एक ही होगा—कदाचित् विश्व के उन किन्हीं पदाधिकारियों से अधिक प्रभावयुक्त होगा जो प्रथम भवन में बहुमत प्राप्त कर राष्ट्र के भाग्य को अपनी अँगुली पर नचाया करते हैं।

(ब) प्रधान मन्त्री और संसद

लोकसभा में प्रधान मन्त्री समस्त मन्त्रि मण्डल का प्रतिनिधित्व करता है। सरकार की नीति के सम्बन्ध में अधिकृत रूप से कुछ जानने के लिए जनता की आँखें प्रधान मन्त्री को ओर ही लगी रहती हैं। वह समस्त महत्वपूर्ण प्रस्तावों के सम्बन्ध में बोलता है और छिद्रान्वेयी परिस्थितियों में भाषण का भार तथा उत्तरदायित्व वह अपने पर ही ले लेता है। कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यवस्थापक विषयों के सम्बन्ध में तो वह अपनी प्रतिष्ठा और पद को संकट में डालकर अग्रसर होता है। सारांश यह है कि वह केवल मन्त्रि मण्डल का ही नेता नहीं होता वरन् भवन का नेता भी होता है। संसद का पुलपित ही इस बात का निर्णायक होता है कि प्रधान मन्त्री और उसके सहयोगियों को हटा दिया जाए अथवा दुगुना विश्वास निहित कर उन्हें उनके पद पर फिर से प्रतिष्ठित किया जाए।

(स) प्रधान मन्त्री और उसके सहयोगी

मन्त्रि-परिषद् में स्वयं उसकी स्थिति ही सर्वोच्च उत्तरदायित्व और आदेशकर्ता का निर्देशन करती है। अन्य मन्त्रियों को वह ज्यों का त्यों रहने देता है। उनकी योजनाओं और कार्यों के सम्बन्ध में वह समान प्रभाव और निरीक्षण का प्रयोग करता है। मन्त्रि मण्डल की बैठकों में वह सभापति का पद ग्रहण करता है। वह अपने सहयोगियों के साथ परामर्श करता है—कभी उन्हें उत्साह प्रदान करता है, अथवा के नाते कभी उन पर शासन भी करता है, कभी उन्हें सम्मति प्रदान करता है और कभी उनका पथ प्रदर्शन भी करता है। वह अपने दल की समस्त आपत्तियों में भाग लेता है और एक वीर कर्णधार के समान वह अपनी राज्य रूपी नौका को खेता रहता है। यदि उसके सहयोगियों में कोई पारस्परिक मतभेद होता है तो वह उनके मतेतद् को नष्ट करने की चेष्टा करता है। आवश्यकता पड़ने पर विभिन्न सम्मति वाले मन्त्रियों पर वह अपने विचार लाद सकता है। इस प्रकार की परिस्थितियों में मन्त्री अथवा मन्त्रियों को त्यागपत्र के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं। गुप्त रूप से मन्त्रीगण

कितने ही असहमत एवं असन्तुष्ट क्यों नहीं हों परन्तु बाह्य रूप से जनता के सन्मुख मन्त्रि मंडल अविभाजित पूर्णता के रूप में ही उपस्थित होना चाहिए, और मन्त्रि मंडल की सम्मति युक्त प्रधान मन्त्री द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रम और नीति का समर्थन प्रत्येक मंत्री द्वारा होना चाहिए । अविवेक अथवा कुव्यवहार के आचरण में प्रधान मंत्री किसी भी मंत्री को त्यागपत्र उपस्थित करने के लिए विवश कर सकता है । इस प्रकार प्रधान मंत्री अपने सहयोगियों में प्रथम अथवा प्रधान^१ पद का उपभोग करने वाला होगा, परन्तु कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी हैं जिनमें वह इससे भी अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है—अर्थात् नक्षत्र मण्डल में चन्द्र के समान^२ हो सकता है—वह इस प्रकार की शक्ति का धारण करने वाला पदाधिकारी है कि तानाशाह भी बन सकता है यदि उसका व्यक्तित्व उसका साथ दे ।

1. 'Primus inter pares' (first among his equals.)

2. 'Inter stellas lumina minores' (the moon among the lesser stars.)

आठवाँ अध्याय

सर्वोच्च न्यायालय

“वर्तमान काल में जबकि स्वतन्त्रता की अग्नि शिखा भाग्य के थपेड़ों से झिलमिल रही है, और अन्तर्देशीय अव्यवस्था और बाह्य संकट के कारण, सरकार देश की शान्ति को सुरक्षित रखने की आकाँक्षा से, प्रजा की स्वतन्त्रता पर आघात कर विधान के अन्तर्गत प्रतिपादित मौलिक अधिकारों के आश्वासन को भ्रष्ट एवं अपवित्र कर रही है, एक ऐसी संस्था का होना अत्यन्त ही उचित और आवश्यक है जो विधान की सीमा रूप हो, और जो उत्साह के साथ इस बात का ध्यान रखे कि कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका सभा का बहुमत दल कहीं अपने अधिकारों पर आरोपित प्रतिबन्धों का उल्लंघन न करे। इसी प्रकार की संस्था का स्वरूप विधान द्वारा स्थापित सर्वोच्च न्यायालय का है।”^१

—श्री एन. आर. राघवाचारी

व्यवस्थापन के नैयायिक निरीक्षण, विधान की व्याख्या, तथा अधिकारों से सम्बन्धित उठ खड़े हुए संघ और राज्यों, तथा स्वयं राज्यों के झगड़ों का निर्णय करने के हेतु विधान द्वारा एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई है। संघ प्रणाली पर आधारित राज्य में इस प्रकार की न्याय-व्यवस्था होना अत्यन्त आवश्यक है, विशेष रूप से केन्द्र और अन्य राज्यों के अधिकार क्षेत्र की सीमा को निश्चित करने के हेतु जिससे कि कोई एक दूसरे के क्षेत्र का अपहरण न करले।

¹ “In these days when the flame of freedom is flickering in the winds of destiny and, in view of internal chaos and external menace, the Government in its anxiety to preserve the peace of the land sometimes trenches on the liberty of the subject violating the fundamental guarantees of the Constitution, it is but proper and necessary that there should be a body, which will be the bulwark of the Constitution and jealously guard against the executive or the legislative majority transgressing the limitations on their powers. It is this body that one finds in the Supreme Court established by the Constitution.”

—Sri N. R. Raghavachari.

सर्वोच्च न्यायालय का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

(१) संगठन की रूपरेखा

(अ) निर्माण

सर्वोच्च न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश होगा तथा सात से अधिक अन्य न्यायाधीश न हो सकेंगे। संसद अपने एक कानून द्वारा इस संख्या में वृद्धि कर सकती है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के तथा राज्यों के हाईकोर्ट के न्यायाधीशों से परामर्श लेकर करेगा। प्रधान न्यायाधीश के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के समय राष्ट्रपति प्रधान न्यायाधीश से परामर्श लेगा।

(ब) न्यायाधीशों की योग्यताएँ

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद के लिए किसी व्यक्ति को भारतवर्ष का नागरिक होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि (१) वह पाँच वर्ष तक किसी हाईकोर्ट का न्यायाधीश रह चुका हो, अथवा (२) दस वर्ष तक किसी हाईकोर्ट का एडवोकेट रह चुका हो, अथवा (३) जो राष्ट्रपति की सम्मति में एक प्रसिद्ध धर्मज्ञ हो।

(स) कार्यकाल

सामान्य रूप से एक न्यायाधीश ६५ वर्ष की आयु प्राप्त करने पर अवकाश ग्रहण करेगा। वह इसके पूर्व भी अपने पद से त्याग पत्र दे सकता है। इस प्रकार का त्याग पत्र राष्ट्रपति को देना होगा। इसके अतिरिक्त विधान के अन्तर्गत प्रतिपादित प्रणाली द्वारा उसे पदस्थ भी किया जा सकता है। किसी न्यायाधीश को उस समय तक उसके पद से पदस्थ नहीं किया जा सकेगा जब तक कि संसद के दोनों भवन अपने सदस्यों की कुल संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित सदस्यों के ३ बहुमत से एक प्रस्ताव पास कर राष्ट्रपति के पास न भेज दे। यह प्रस्ताव उसी अधिवेशन में भेजा जाना चाहिए, और इस प्रस्ताव के पास करने का कारण न्यायाधीश का कुण्यवहार अथवा उसकी अयोग्यता होना चाहिए। इसके पश्चात् राष्ट्रपति के आदेश से उसे पदस्थ किया जा सकेगा। इस सम्बन्ध में संसद को इस प्रकार के प्रस्ताव के उपस्थित करने की प्रणाली निश्चित करने तथा न्यायाधीश के कुण्यवहार तथा उसकी अयोग्यता के सम्बन्ध में छानबीन करने का अधिकार होगा। न्यायाधीशों को पदस्थ करने की यह विशेष विधि उनकी न्याय सम्बन्धी स्वतन्त्रता और निष्पक्षता को सुरक्षित रखने के हेतु प्रदान की गई है।

(द) वेतन, सुविधा तथा प्रतिबन्ध

प्रधान न्यायाधीश का मासिक वेतन (५०००) रुपए और अन्य न्यायाधीशों

का वेतन ४०००) रुपए मासिक निश्चित किया गया है। न्यायाधीशों की सुविधाएँ, भत्ते, छुट्टी और वृत्ति के उनके अधिकार संसद अपने एक कानून द्वारा निश्चित करेगी, परंतु एक न्यायाधीश की नियुक्ति के पश्चात् उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकेगा। यह धारा न्यायालय की स्वतंत्रता तथा निष्पक्षता को स्थाई बनाए रखने के हेतु प्रस्तुत की गई है। इसी लक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए सर्वोच्च न्यायालय का व्ष भारतवर्ष के संचित धन में से लिया जाएगा। इसके अतिरिक्त न्यायाधीशों के निवास के लिए उन्हें भवन प्रदान किए जाएंगे।

विधान के अंतर्गत यह निश्चित कर दिया गया है कि जो व्यक्ति सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश रह चुका होगा, वह भारतवर्ष की सीमा में स्थित किसी न्यायालय में पैरवी के लिए नहीं जायगा।

(२) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधिकार

सर्वोच्च न्यायालय तीन प्रकार के न्यायाधिकार का प्रयोग करेगा, जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) मौलिक न्यायाधिकार ^१

इस अधिकार का प्रयोग सर्वोच्च न्यायालय इसी आधार पर करता है कि विभिन्न सरकारों को प्रदान किए गए कार्यक्षेत्रों को स्थित रखना इसी का कर्तव्य है, अर्थात् देश की संघीय व्यवस्था को स्थायी रखने का भार इसी पर है। इसलिए यह न्यायालय अपने इस मौलिक न्यायाधिकार का प्रयोग निम्नलिखित तीन स्थलों पर करता है :—

(अ) केन्द्रीय सरकार और एक अथवा एक से अधिक राज्य की सरकारों के मध्य उठ खड़े हुए झगड़े के निर्णय के हेतु;

(ब) केन्द्रीय सरकार और एक राज्य तथा एक अथवा एक से अधिक राज्यों की सरकारों के मध्य उठ खड़े हुए झगड़े के निर्णय के हेतु; और

(स) दो अथवा दो से अधिक राज्यों में उठ खड़े हुए झगड़े के निर्णय के हेतु।

इन झगड़ों का स्वरूप इस प्रकार का होना चाहिए कि इन पर किसी दल के कानूनी अथवा वैध अधिकारों का प्रश्न निर्भर करता हो।

(२) अपील सम्बन्धी न्यायाधिकार ^२

अपील सम्बन्धी न्यायाधिकार का प्रयोग करते समय सर्वोच्च न्यायालय निम्नलिखित कार्यों का सम्पादन करेगा :—

1. Original Jurisdiction.

2. Appellate Jurisdiction.

(अ) निम्न न्यायालयों द्वारा ऐसे मुकदमों के निर्णय में किए गए दोषों को सुधारना जिसमें अन्य मुकदमों के अनुपात में अधिक महत्वपूर्ण हों, और

(ब) समान धर्म संहिताओं (कानून की पुस्तकों) का विकास ।

हाई कोर्ट के सम्बन्ध में भी यह न्यायालय तीन प्रकार से इस न्यायाधिकार का प्रयोग करेगा :—

(अ) दीवानी के मुकदमों में जिनमें सम्पत्ति का मूल्य अथवा धन २०,००० रुपये से कम न हो । हाई कोर्ट द्वारा यह प्रमाणित कराना होगा । अन्य मुकदमों के सम्बन्ध में यदि हाई कोर्ट यह प्रमाणित करे कि इस मुकदमे की अपील सर्वोच्च-न्यायालय में हो सकती है तो सर्वोच्च न्यायालय इस प्रकार की अपील को सुनेगा ।

(ब) फौजदारी मुकदमों में जब किसी निम्न न्यायालय ने किसी व्यक्ति को निरपराध घोषित कर दिया हो, परन्तु हाई कोर्ट ने उसे मृत्यु दण्ड प्रदान किया हो तो इस प्रकार की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है । फौजदारी के इस प्रकार के मुकदमों में भी सर्वोच्च न्यायालय से अपील की जा सकती है जब कि किसी हाई कोर्ट ने अपने से निम्न न्यायालय से कोई मुकदमा लौटाकर अपराधी को मृत्यु दण्ड प्रदान किया हो । अन्य फौजदारी मुकदमों की अपील भी सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है यदि हाई कोर्ट यह प्रमाणित करे कि वह मुकदमा इस योग्य है कि उसकी अपील सर्वोच्च न्यायालय से की जा सके । संसद अपने एक कानून द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्रदान कर सकती है कि वह अन्य प्रकार के फौजदारी मुकदमों की अपील भी ग्रहण करे ।

(स) मुकदमे का स्वरूप दीवानी हो या फौजदारी, हाई कोर्ट के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकेगी यदि उस मुकदमे में कानून का कोई गम्भीर प्रश्न निहित हो जिससे विधान की व्याख्या करनी पड़े । इस प्रकार की अपील के लिए भी हाई कोर्ट का प्रमाणित करना आवश्यक है । यदि हाई कोर्ट इस प्रकार का प्रमाण प्रश्न देने से मना कर दे, तो स्वयं सर्वोच्च न्यायालय इस प्रकार की अपील की आज्ञा प्रदान कर सकता है ।

(३) पुनर्विचार सम्बन्धी न्यायाधिकार ^१

सर्वोच्च न्यायालय जितना व्यापक सम्भव हो सके, उतना पुनर्विचार सम्बन्धी न्यायाधिकार का प्रयोग कर सकता हो । ^२ सर्वोच्च न्यायालय अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत इस बात की आज्ञा प्रदान कर सकता है कि भारतवर्ष के किसी न्यायालय के

^१ Revisory Jurisdiction.

^२ धारा १३६

किसी मुकदमें अथवा निर्णय—चाहे उसका स्वरूप कैसा भी हो—की अपील उसके सम्मुख रखी जा सकती है। इस सीमा से कोर्ट मार्शल बहिष्कृत कर दिए गए हैं। इस प्रकार भारतवर्ष के समस्त न्यायालयों के सम्बन्ध में इस अधिकार का प्रयोग किया जा सकता है।

(३) सर्वोच्च न्यायालय के अन्य कार्य

इसके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय को कुछ अन्य कार्यों के सम्पादन का भार भी सौंपा गया है। वे कार्य निम्नलिखित हैं :—

(अ) मौलिक अधिकारों की रक्षा सम्बन्धी कार्य

विधान के अन्तर्गत भारतीय नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार प्रदान किए गए हैं और सर्वोच्च न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह राज्य द्वारा अपहरण किए जाने से इन अधिकारों की रक्षा करे।

(ब) परामर्श सम्बन्धी कार्य

राष्ट्रपति कुछ विषयों के प्रति सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति माँग सकता है, और सर्वोच्च न्यायालय का यह कर्तव्य होगा कि उन विषयों के सम्बन्ध में वह राष्ट्रपति की सम्मति प्रदान करे। राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति दो प्रकार के विषयों के सम्बन्ध में माँग सकता है : (१) राष्ट्रपति सार्वजनिक महत्व के किसी प्रश्न के प्रति सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति माँग सकता है; और (२) देशी राज्यों के साथ हुई सन्धि अथवा समझौते के प्रति उठ खड़े हुए किसी झगड़े के प्रति वह सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति माँग सकता है।

(स) विधान की रक्षा एवं व्याख्या सम्बन्धी कार्य

सर्वोच्च न्यायालय को विधान की सुरक्षा का भी कार्य सौंपा गया है। उसका यह कर्तव्य है कि वह इस बात का ध्यान रखे कि संघीय अथवा राज्यों की व्यवस्थापिका सभा अथवा कार्यकारिणी कहीं विधान द्वारा निश्चित अपनी सीमा का उल्लंघन तो नहीं कर रही। यदि किसी भी व्यवस्थापिका सभा का कानून विधान के मूल के विरुद्ध हो तो सर्वोच्च न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है। इसके अतिरिक्त झगड़ों का निर्णय करते समय, अथवा कानून और विधान की व्याख्या करते समय, सर्वोच्च न्यायालय अपने व्याख्या सम्बन्धी निर्णय की घोषणा कर सकता है, और इस प्रकार का निर्णय भारतवर्ष की सीमा में स्थित प्रत्येक न्यायालय पर लागू होगा।

(४) सर्वोच्च न्यायालय की कार्य प्रणाली

हमारे विधान के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय की कार्य प्रणाली से सम्बन्धित कुछ धाराएँ प्रस्तावित की गई हैं। यह निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जायगा।

विशेष विषयों के सम्बन्ध में उपस्थित रहने के लिए न्यायाधीशों की संख्या

निश्चित करदी गई है। कानून से सम्बन्धित किसी महत्वपूर्ण प्रश्न अथवा विधान की व्याख्या और राष्ट्रपति द्वारा भेजे गए किसी प्रश्न के सम्बन्ध में जिस पर राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय की सभ्यति माँगी हो, उपस्थित रहने वाले न्यायाधीशों की संख्या कम से कम पाँच होनी चाहिए। अन्य कार्यों के सम्बन्ध में न्यायाधीशों की संख्या सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निर्मित नियमों के अन्तर्गत निश्चित की जाएगी।

यदि किसी विशेष अवसर पर यह निर्दिष्ट संख्या पूर्ण नहीं हो पाती तो प्रधान न्यायाधीश राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के साथ कुछ अस्थायी न्यायाधीशों की नियुक्ति कर सकेगा। इन अस्थायी न्यायाधीशों की नियुक्ति हाई कोर्ट के उन न्यायाधीशों में से की जाएगी जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश बनने के योग्य होंगे। अस्थायी न्यायाधीशों के अतिरिक्त, जिनकी नियुक्ति केवल निर्दिष्ट संख्या को पूरा करने के लिए होती है, सर्वोच्च न्यायालय की बैठक के अवसर पर अवकाश प्राप्त न्यायाधीशों की उपस्थिति की भी व्यवस्था की गई है।

सर्वोच्च न्यायालय की कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रपति की स्वीकृति के साथ नियम बना सकता है। इसके समस्त निर्णय और सम्मतियाँ स्पष्ट रूप से न्यायालय में प्रदान की जाएँगी; इस प्रकार के निर्णय अथवा सम्मति न्यायाधीशों के बहुमत से ही घोषित की जाएँगी, यद्यपि इनसे असहमत होने वाला न्यायाधीश अपना मत पृथक् रूप से प्रकट कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय के समस्त आदेश और डिग्री समस्त भारतवर्ष में लागू हो सकेंगे और यह न्यायालय किसी व्यक्ति को उपस्थित होने अथवा कोई लेख उपस्थित करने की आज्ञा प्रदान कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय के अनादर के लिए वह दण्ड भी प्रदान कर सकता है। भारतवर्ष के शासन तथा न्याय व्यवस्था से सम्बन्धित समस्त पदाधिकारी सर्वोच्च न्यायालय के कार्य में सहायता प्रदान करेंगे।

आलोचनात्मक निरीक्षण

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधिकार क्षेत्र अथवा अन्य कार्यों की विवेचना से भारतवर्ष के एटोर्नी जनरल (Attorney General) श्री एम. सी. सिटालवेड के निम्नलिखित कथन की पुष्टि होती है :

“इस न्यायालय के न्यायक्षेत्र और अधिकार कॉमनवेल्थ के किसी देश के सर्वोच्च न्यायालय अथवा संयुक्त राज्य (अमरीका) के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रयोग किए जाने अधिकारों से कहीं अधिक व्यापक है।”¹

1. “The jurisdiction and powers of the court are wider than those exercised by the highest court of any country in the Commonwealth or by the Supreme Court of the United States.”

—From Mr. M. C. Setalvad's inaugural address of January 28, 1950.

हमारे सर्वोच्च न्यायालय के परामर्श सम्बन्धी कार्यों को युक्ति पूर्ण एवं बुद्धि संगत आलोचना की गई है। हमारे सर्वोच्च न्यायालय के इस कार्य की कोई विशेष आवश्यकता इसलिए नहीं थी क्योंकि समस्त कानूनी विषयों में सरकार को सम्मति प्रदान करने के लिए एक एटोर्नी जनरल रहता है, जिसकी योग्यताएँ वही हैं जो सर्वोच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश के लिए नियत की गई हैं।

सर्वोच्च न्यायालय का यह परामर्श का कार्य सर्वोच्च न्यायालय को उसके उस स्थान से नीचे की ओर ढकेल देगा, जो स्थान उसे अपील के न्यायालय और राज्यों के भगड़ों का निर्णय करने वाले के रूप में प्राप्त हुआ है। जब किसी विषय के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रपति को सम्मति प्रदान कर देगा, तब यदि वही विषय उसके सन्मुख फिर से आएगा, तो निःसन्देह सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति अत्यन्त व्यग्रता-पूर्ण हो जाएगी। इस प्रकार की परिस्थिति से उत्पन्न होने वाली अन्य परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराते हुए श्री एन. आर. राववाचारी ने लिखा है कि :

“क्या न्यायालय अब भी स्वयं को उसी मत से बाध्य समझेगा जो उसने दूसरे दल की तर्कों को सुने बिना राष्ट्रपति के सन्मुख प्रकट कर दिया था ? अथवा क्या पूर्व समय में प्रदान किए गए परामर्श से प्रभावित हुए बिना इस दल के तर्क को सुन सकेगा ? क्या उस दल की यह शंका विवेक पूर्ण एवं न्याय संगत नहीं होगी कि उसे इस प्रकार के न्यायालय के सन्मुख अपना दृष्टिकोण प्रकट करने का निष्पत्त अवसर प्राप्त नहीं हो रहा ? तब क्या यही उत्तम नहीं होता कि विधान में इस प्रकार की किन्मी धारा को स्थान ही प्रदान न किया जाता ?

नवाँ अध्याय

राज्य की व्यवस्थापिका सभाएँ

“राज्य के व्यवस्थापन के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को निरीक्षण और अस्वीकृत करने के अधिकार प्रदान किए गए हैं; समस्त संघ की समान नीति के हित में, अथवा जब वह किसी प्रस्ताव के सम्बन्ध में यह विचार करे कि उससे जनता के अधिकारों और स्वतंत्रता का उस सीमा तक अपहरण हो रहा है जिस सीमा तक समस्त परिस्थितियों में न्याय्य नहीं है, तब वह कभी भी इस अधिकार के प्रयोग को आवश्यक समझ सकता है। यद्यपि यह अधिकार निरंकुश प्रतीत होता है, यह स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार के विषयों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति अपने मंत्रियों की सम्मति से कार्य करता है, और उससे यही आशा भी की जाती है। यह अत्यन्त ही अनुचित प्रतीत होगा कि इस प्रकार के महत्वपूर्ण विषय के सम्बन्ध में कि राज्य की व्यवस्थापिका सभा को स्वयं का मार्ग ग्रहण करने से बांचित कर दिया जाए, वह अपने मन्त्रियों की उत्तरदायी सम्मति बिना कुछ कार्य करने का साहस करेगा।”

—श्री एन. आर. राघवाचारी

नवीन विधान के अनुसार भारतीय संघ की इकाइयाँ चार शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित की गई हैं भाग ‘अ’ और ‘ब’ और भाग ‘स’ और ‘द’। भाग ‘अ’ में वह

1. “President is given a supervisory and overriding power over State legislation whenever he thinks it necessary to exercise it in the interest of the general policy of the Union as a whole, or when he considers the Bill as encroaching upon the rights or liberties of the subject to an extent and in a degree not justified in all the circumstances. Though the power appears to be absolute, it should be remembered that the president acts, and is expected to act in such matters only on the advice of the Cabinet, and it will be extremely unlikely that in such an important matter as preventing the State legislature to have its own way he will venture on the action without the responsible advice of his Ministers.

—Sri N. R. Raghavachari.

राज्य हैं, जो पूर्व समय में गवर्नरों के प्रांत कहलाते थे और अब भी जिनमें राज्य का अध्यक्ष राज्यपाल (गवर्नर) ही होगा। भाग 'ब' में वे राज्य सम्मिलित किए गए हैं जो पूर्व समय में देशी राज्य के नाम से प्रसिद्ध थे। अब क्योंकि यह राज्य भी संघ में सम्मिलित हो गए हैं इनमें शासन का अध्यक्ष राजप्रमुख होगा। जो राज्य भाग 'अ' और 'ब' में उद्धृत हैं उन्हें उनके स्वतंत्र होने के कारण एक ही तथा समान शीर्षक के अन्तर्गत रखा जा सकता है। भाग 'स' और 'द' में वे क्षेत्र अथवा राज्य हैं जिनका शासन प्रबन्ध राष्ट्रपति चीफ कमिश्नर अथवा उपराज्यपाल (Lieutenant Governor) द्वारा करेंगे। इनकी नियुक्ति भी राष्ट्रपति द्वारा ही होगी। भाग 'स' और 'द' में उल्लिखित राज्य केन्द्र द्वारा शासित होते हैं, इस कारण उन्हें "केन्द्र द्वारा शासित राज्य" के शीर्षक के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

अब राज्य की व्यवस्थापिका सभा का विवेचन निम्नलिखित दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

(१) स्वतन्त्र राज्य; और

(२) केन्द्र द्वारा शासित राज्य।

(१) स्वतन्त्र राज्य

प्रत्येक स्वतन्त्र राज्य की व्यवस्थापिका सभा में राज्यपाल अथवा राजप्रमुख और एक अथवा दो भवन होंगे। केवल मद्रास, बम्बई, बिहार, पंजाब, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल में दो भवन होंगे। दूसरे शब्दों में इन राज्यों में द्विआगारिक व्यवस्थापिका सभा होगी। यह सब राज्य भाग 'अ' में सम्मिलित हैं। भाग 'ब' में उल्लिखित राज्यों में से केवल मैसूर की व्यवस्थापिका सभा में दो भवन होंगे, अन्य राज्यों में एकागारिक व्यवस्थापिका सभा होगी। जहाँ दो भवन हैं वहाँ द्वितीय भवन का नाम व्यवस्थापक परिषद् (Legislative Council) होगा। जहाँ केवल एक भवन है वहाँ तथा दो भवन हैं वहाँ के प्रथम भवन का नाम व्यवस्थापक समिति (Legislative Assembly) होगा। इस सम्बन्ध में राज्यों में द्वितीय भवन के जन्म और समाप्ति से सम्बन्धित प्रणाली विधान में प्रस्तुत की गई है। यदि किसी राज्य की व्यवस्थापक समिति उपस्थित सदस्यों के ३ बहुमत से द्वितीय भवन के जन्म अथवा समाप्ति से सम्बन्धित प्रस्ताव पास करके संसद के पास भेज दे, तो संसद इस प्रस्ताव के अनुसार कार्य कर सकती है, और इस प्रकार के कानून निर्माण के लिए संसद में सामान्य बहुमत यथेष्ट होगा।

सदस्यता सम्बन्धी योग्यताएँ, अयोग्यताएँ, आदि

किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा की सदस्यता के लिए यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति (१) भारतवर्ष का नागरिक हो; (२) व्यवस्थापक समिति के सम्बन्ध

में उसकी आयु २५ वर्ष से कम तथा व्यवस्थापक परिषद् के सम्बन्ध में उसकी आयु ३० वर्ष से कम न हो; और (३) संसद के किसी कानून द्वारा निर्धारित अन्य धोम्य-ताएँ भी रखता हो। इसके विपरीत इस प्रकार का कोई व्यक्ति किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा की सदस्यता ग्रहण नहीं कर सकता जो (१) भारत सरकार अथवा किसी राज्य की सरकार के अन्तर्गत ऐसा पद प्राप्त न किए हुए हो जो उसे लाभ प्रदान करने वाला हो; (२) पागल हो तथा किसी अधिकृत न्यायालय ने यह घोषित भी कर दिया हो; (३) दिवालिया हो; (४) भारतवर्ष का नागरिक न हो, अथवा जिसने स्वेच्छा से किसी अन्य देश की नागरिकता ग्रहण कर ली हो अथवा जो किसी अन्य देश से सन्धि किए हुए हो, अथवा (५) संसद द्वारा निर्मित किसी कानून के अन्तर्गत वह अयोग्य सिद्ध हो जाए। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारत सरकार अथवा किसी राज्य की सरकार में मन्त्री का पद ग्रहण करना उन सरकारों के अन्तर्गत लाभ प्रदान करने वाला पद न समझा जाएगा। कोई व्यक्ति एक साथ ही किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के दोनों भवनों का सदस्य नहीं हो सकेगा। व्यवस्थापिका सभा इस सम्बन्ध में कुछ कानूनों का निर्माण करेगी कि इस प्रकार की परिस्थिति में किसी एक भवन का स्थान रिक्त कर दिया जाए। इसी प्रकार कोई व्यक्ति एक साथ ही दो अथवा दो से अधिक व्यवस्थापिका सभाओं का सदस्य नहीं हो सकेगा, ऐसी परिस्थिति में एक व्यवस्थापिका सभा में से स्थान रिक्त करने के सम्बन्ध में राष्ट्रपति कोई प्रणाली निश्चित करेंगे। किसी सदस्य का पद उस समय भी रिक्त हो जाएगा जिस समय वह स्वयं अध्यक्ष (Speaker) अथवा सभापति को अपना त्याग पत्र दे देगा। यदि कोई सदस्य लगातार ६० दिन तक भवन की समस्त बैठकों से बिना किसी सूचना के अनुपस्थित रहता है तो उस सदस्य का स्थान रिक्त घोषित कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई सदस्य चुने जाने के सम्बन्ध में अयोग्य सिद्ध हो जाता है तो उसका स्थान भी रिक्त हो जाएगा। यदि किसी व्यक्ति की सदस्यता के सम्बन्ध में अयोग्यता का प्रश्न उठता है तो निर्वाचन समिति की सम्मति द्वारा प्रदान किया गया राज्यपाल का निर्णय मान्य होगा। हर परिस्थिति में राज्य की व्यवस्थापिका सभा के प्रत्येक सदस्य को अपना स्थान ग्रहण करने से पूर्व राज्यपाल अथवा राजप्रमुख अथवा उनके द्वारा नियुक्त किए गए किसी अन्य व्यक्ति के सन्मुख विधान के अन्तर्गत प्रस्तावित शपथ ग्रहण करनी पड़ती है। यदि कोई सदस्य किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा में बिना शपथ ग्रहण किए बैठ जाए, अथवा वह इसके योग्य न हो, अथवा जिसकी सदस्यता को रद्द कर दिया गया हो, तो इस प्रकार बैठने वाले व्यक्ति पर पाँच सौ रुपये प्रतिदिन की गणना से जुर्माना किया जायगा। किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के दोनों भवनों के सदस्यों का वेतन उस राज्य की व्यवस्थापिका सभा अपने कानून द्वारा समय-समय पर निश्चित किया करेगी। इस सम्बन्ध में जब तक कोई कानून नहीं बन जाता, इन सदस्यों को वही वेतन तथा भत्ता मिलेगा

जो इस विधान के लागू होने से पूर्व प्रान्त की व्यवस्थापक समिति के सदस्यों को दिया जाता था ।

सदस्यों के अधिकार तथा सुविधाएँ

प्रत्येक राज्य की व्यवस्थापिका सभा में भाषण की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है जो व्यवस्थापिका सभा के स्थायी नियमों और आदेशों के आधीन होगी । किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा में कुछ भाषण तथा मत देने के सम्बन्ध में सभा के किसी सदस्य को न्यायालय के सम्मुख उपस्थित नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार किसी भवन द्वारा प्रदान किए गए आदेश से यदि कोई व्यक्ति कुछ प्रकाशन करवाता है तो उसे उन प्रकाशनों के उत्तरदायित्व के हेतु किसी न्यायालय में उपस्थित नहीं किया जा सकता । अन्य विषयों के सम्बन्ध में किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन के अधिकार और सुविधाएँ तथा इस प्रकार की व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों और समितियों के अधिकार और सुविधाएँ ब्रिटिश पार्लियामेंट की लोक सभा (House of Commons) और उसके सदस्यों और समितियों के अधिकार और सुविधाओं के समान होंगे । विधान में यह प्रस्तावित किया गया है कि हाईकोर्ट अथवा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के आचरण के सम्बन्ध में किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा में कोई वाद-विवाद नहीं हो सकेगा । यह भी उसी समय सम्भव है जब यह न्यायाधीश सरकारी रूप से कार्य कर रहे हों ।

व्यवस्थापक समिति का निर्माण और अवधि

किसी राज्य की व्यवस्थापक समिति में अधिक से अधिक पाँच सौ और कम से कम ६० सदस्य हो सकते हैं । इन सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मतदाताधिकार के सिद्धान्त के आधार पर होगा । २१ वर्ष तथा इससे अधिक आयु वाला व्यक्ति मतदान कर सकता है यदि वह यहाँ का नागरिक हो, पागल न हो, दिवालिया न हो, किसी अभियोग अथवा क़ानून विरुद्ध व्यवहार के कारण दण्डित न हुआ हो । आसाम के स्वतन्त्र ज़िलों और शिलाँग की छावनी और म्युनिसिपैलिटी के अतिरिक्त प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में प्रतिनिधित्व का अनुपात ७५००० जनता के लिए एक प्रतिनिधि होगा । इस जनता की गणना का आधार यह अन्तिम गणना होगी । सदस्य और जनता की संख्या में जहाँ तक सम्भव हो सके राज्य भर में एक ही अनुपात होना चाहिए, और अनेक निर्वाचन क्षेत्रों में से प्रत्येक का प्रतिनिधित्व जन गणना के आधार पर फिर से व्यवस्थित की जाएगी । इस विधान के लागू होने के दिनांक से दस वर्ष तक के लिए व्यवस्थापक समिति में निम्नलिखित के सम्बन्ध में कुछ सीटें सुरक्षित कर दी गई हैं—(१) दलितवर्ग; (२) जनता के अनुपात के आधार पर आसाम के पिछड़े हुए वर्गों के अतिरिक्त अन्य पिछड़े हुए वर्ग; (३) जनता के अनुपात के

आधार पर आसाम के स्वतन्त्र जिलों में से कुछ जिले (सदस्यता के निर्वाचन की योग्यता के सम्बन्ध में वह व्यक्ति स्वतन्त्र जिले के पिछड़े हुए वर्ग का सदस्य होना चाहिए)। यदि राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को यह प्रतीत हो कि व्यवस्थापक समिति में एंग्लो-इण्डियन जाति को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है तो वह इस विधान के लागू होने के दिनांक से दस वर्ष तक के लिए एंग्लो-इण्डियन जाति के कुछ प्रतिनिधियों की नियुक्ति कर सकता है। इस प्रकार निर्वाचित व्यवस्थापक समिति अपने में से दो सदस्यों का निर्वाचन करेगी जो अध्यक्ष (Speaker) और उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) कहलाएंगे। यदि इस समिति को अवधि से पूर्व विसर्जित नहीं कर दिया गया तो पाँच वर्ष की पूरी अवधि समाप्त होने पर वह स्वयं विसर्जित हो जायगी। संकट कालीन अवस्था अथवा असाधारण परिस्थिति की घोषणा के समय में व्यवस्थापक समिति की अवधि एक बार में एक वर्ष के रूप में संसद के एक कानून द्वारा बढ़ाई जा सकती है। परन्तु इस प्रकार की घोषणा की समाप्ति के पश्चात् ६ मास के समय में यह अवश्य विसर्जित हो जानी चाहिए।

व्यवस्थापक परिषद् का निर्माण और अवधि

राज्य की व्यवस्थापक परिषद् एक स्थायी संस्था होगी। इसके एक तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण कर लिया करेंगे। किसी राज्य की व्यवस्थापक परिषद् के सदस्यों की संख्या उसकी व्यवस्थापक समिति के सदस्यों की संख्या के $\frac{2}{3}$ भाग से अधिक और चालीस से कम न हो सकेगी। व्यवस्थापक परिषद् के कुल सदस्यों की संख्या का वितरण इस प्रकार से होगा :—(१) इसके $\frac{2}{3}$ सदस्य अविभक्त हस्तान्तरित मत के आधार पर अनुरूप प्रतिनिधित्व की प्रणाली द्वारा विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों से निर्वाचित किए जाएंगे; इस सम्बन्ध में निर्वाचक होंगे म्युनिसिपैलिटी, जिला बोर्ड आदि स्थानीय संस्थाओं के सदस्य तथा अन्य ऐसे सदस्य जो संसद ने एक कानून द्वारा निश्चित किए हों; (२) इसके $\frac{1}{3}$ सदस्य अविभक्त हस्तान्तरित मत के आधार पर अनुरूप प्रतिनिधित्व की प्रणाली द्वारा विभिन्न निर्वाचन-क्षेत्रों से निर्वाचित किए जाएंगे; इस सम्बन्ध में निर्वाचक गण होंगे वे व्यक्ति जिन्हें भारतवर्ष के किसी विश्वविद्यालय के स्नातक (बी. ए.) का प्रमाण पत्र मिले तीन वर्ष से अधिक हो गए हों, अथवा वे व्यक्ति जिनके पास कुछ ऐसी योग्यता हो जो संसद के एक कानून द्वारा स्नातक के समान निश्चित कर दी गई हो—यहाँ भी तीन वर्ष की अवधि अनिवार्य है; (३) इसके $\frac{1}{3}$ सदस्य अविभक्त हस्तान्तरित मत के आधार पर अनुरूप प्रतिनिधित्व की प्रणाली द्वारा विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों से निर्वाचित किए जाएंगे। इस सम्बन्ध में निर्वाचक गण होंगे वे व्यक्ति जो तीन वर्ष तक किसी ऐसी शैक्षिक संस्था में अध्यापन का कार्य सम्पादन कर चुके हों जिसका स्तर एक सहाकारी पाठशाला (Secondary School) से निम्न न हो; (४) इसके $\frac{1}{3}$ सदस्य अविभक्त हस्तान्तरित

मठ के आधार पर अनुरूप प्रतिनिधित्व की प्रणाली द्वारा विभिन्न निर्वाचन-क्षेत्रों से निर्वाचित किए जाएंगे; इस सम्बन्ध में व्यवस्थापक समिति के सदस्य उन व्यक्तियों में से इनका निर्वाचन करेंगे जो व्यवस्थापक समिति के सदस्य न होंगे; और (२) इसके शेष सदस्य (लगभग $\frac{1}{3}$) राज्यपाल अथवा राजप्रमुख नियुक्त करेंगे; नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति वे होंगे जो साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन और समाज सेवा सम्बन्धी विशेष ज्ञान और व्यावहारिक अनुभव रखते हों। इस प्रकार निर्मित व्यवस्थापक परिषद् अपने में से दो सदस्यों का निर्वाचन करेगी जो सभापति (Chairman) और उप-सभापति (Deputy Chairman) कहलाएंगे।

कार्य-प्रणाली

राज्य की व्यवस्थापिका सभा का भवन अथवा दोनों भवन एक वर्ष में कम से कम दो बार अवश्य सम्मिलित होंगे और प्रथम अधिवेशन की अन्तिम बैठक और आगामी अधिवेशन की प्रथम बैठक के मध्य का समय ६ मास से अधिक नहीं होना चाहिए। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख भी समय-समय पर भवन अथवा भवनों को आमन्त्रित तथा उनकी बैठक को स्थगित कर सकता है, इसके अतिरिक्त वह व्यवस्थापक समिति को विसर्जित भी कर सकता है। किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन में उपस्थित सदस्य अपने बहुमत द्वारा प्रत्येक प्रश्न का निर्णय करेंगे। अध्यक्ष अथवा सभापति को मतदान का अधिकार नहीं होगा, परन्तु दोनों पक्षों में समान मत होने पर वह निर्जीमत अथवा निर्णायक मत का प्रयोग कर सकेगा। भवन की निर्दिष्ट संख्या (कोरम) दस अथवा भवन के सदस्यों की कुल संख्या का $\frac{1}{10}$ भाग होगी। व्यवस्थापिका सभा इस सम्बन्ध में कोई अन्य कानून भी निर्मित कर सकती है। निर्दिष्ट संख्या उपस्थित न होने पर अध्यक्ष अथवा सभापति को यह अधिकार होगा कि वह भवन की बैठक को उस समय तक के लिए स्थगित कर दे जब तक कि निर्दिष्ट संख्या पूर्ण न हो जाए। किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा का कार्यक्रम उस राज्य की सरकारी भाषा अथवा हिन्दी अथवा अंगरेज़ी में सम्पादित होगा। इस विधान के लागू होने के दिनांक से पन्द्रह वर्ष की समाप्ति पर अंगरेज़ी भाषा समाप्त कर दी जाएगी। राज्य की व्यवस्थापिका सभा इस सम्बन्ध में कुछ अन्य नियम निर्धारित कर सकती है। आय प्रस्ताव तथा आर्थिक प्रस्तावों के अतिरिक्त अन्य प्रस्ताव दोनों भवनों में से किसी भी भवन में प्रथम बार उपस्थित किए जा सकेंगे। एक प्रस्ताव उसी समय एकटा का स्वरूप ग्रहण कर सकेगा जब उस पर दोनों भवनों की स्वीकृति प्राप्त हो जाए। इस सम्बन्ध में व्यवस्थापक परिषद् के अधिकारों पर विधान द्वारा कुछ प्रतिबन्ध उपस्थित किए गए हैं। प्रस्ताव के सम्बन्ध में हुए संशोधन पर भी दोनों भवन सहमत होने चाहिए। यदि व्यवस्थापिका सभा में किसी प्रस्ताव पर विचार हो रहा हो और यदि व्यवस्थापिका सभा को कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया जाय तो वह प्रस्ताव

रह नहीं माना जायगा। इसी प्रकार यदि किसी प्रस्ताव पर व्यवस्थापक परिषद् में विचार हो रहा हो और यदि व्यवस्थापक समिति विसर्जित कर दी जाती है तो भी वह प्रस्ताव रह नहीं माना जाएगा चाहे वह व्यवस्थापक समिति द्वारा स्वीकृत हुआ हो अथवा न हुआ हो। परन्तु यदि किसी प्रस्ताव पर व्यवस्थापक समिति में विचार हो रहा हो और यदि व्यवस्थापक समिति विसर्जित कर दी जाती है तो वह प्रस्ताव भी समाप्त हो जाएगा। व्यवस्थापिका सभा के दोनों भवनों को अपनी कार्य प्रणाली के सुविधा-पूर्ण संचालन के हेतु नियम प्रस्तावित करने का अधिकार होगा। जिन राज्यों में दो भवन होंगे वहाँ राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को दोनों भवनों के अध्यक्षों से परामर्श कर दोनों भवनों के आदान-प्रदान के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार होगा। आर्थिक प्रस्तावों की समयगत पूर्णता के लिए व्यवस्थापिका सभा भी कुछ नियमों का निर्माण कर सकती है।

व्यवस्थापक कार्य-प्रणाली

जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है आय प्रस्ताव तथा आर्थिक प्रस्तावों के अतिरिक्त अन्य प्रस्ताव दोनों भवनों में से किसी भवन में प्रथम बार उपस्थित किए जा सकेंगे। प्रस्ताव के पास होने के लिए उस पर दोनों भवनों की स्वीकृति आवश्यक है। प्रस्ताव से सम्बन्धित संशोधन पर भी दोनों भवन सहमत होने चाहिए। इसके अतिरिक्त विधान द्वारा व्यवस्थापक परिषद् के कानून-निर्माण के अधिकारों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं। इस प्रकार यदि व्यवस्थापक समिति किसी प्रस्ताव को पास कर व्यवस्थापक परिषद् के पास भेजती है तो (१) वह प्रस्ताव परिषद् द्वारा अस्वीकृत किया जा सकता है; अथवा (२) परिषद् के सन्मुख उपस्थित हुए उस प्रस्ताव को तीन मास से अधिक समय व्यतीत हो चुका हो और वह प्रस्ताव परिषद् द्वारा पास न किया गया हो; अथवा (३) कुछ संशोधनों सहित वह प्रस्ताव परिषद् द्वारा पास कर दिया जाता है परन्तु उन संशोधनों पर समिति कोई ध्यान न देकर उस प्रस्ताव को फिर से पास कर परिषद् के पास भेज सकती है। इस प्रकार दुबारा पास किया गया प्रस्ताव यदि परिषद् द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है, अथवा उसे परिषद् के सन्मुख उपस्थित हुए एक मास से अधिक समय व्यतीत हो चुका हो और वह परिषद् द्वारा पास न किया गया हो; अथवा वह प्रस्ताव परिषद् द्वारा कुछ ऐसे संशोधनों सहित पास किया जाता है जिनसे समिति सहमत नहीं, तो वह प्रस्ताव उसी रूप में दोनों भवनों द्वारा स्वीकृत माना जाएगा जिस रूप में वह समिति द्वारा दुबारा पास किया गया हो।

आय प्रस्तावों के सम्बन्ध में भी परिषद् के अधिकार अत्यन्त सीमित कर दिए गए हैं। इस प्रकार जिन राज्यों में दो भवन हैं वहाँ यदि कोई आय प्रस्ताव समिति

द्वारा पास कर परिषद् के पास भेजा जाता है तो यदि परिषद् उस प्रस्ताव को प्राप्ति के दिनांक से चौदह दिन के समय में उसे न लौटा दे, वह प्रस्ताव दोनों भवनों द्वारा स्वीकृत मान लिया जाता है। यदि परिषद् चौदह दिन को अवधि में उस प्रस्ताव को लौटा भी दे तो समिति को यह अधिकार है कि परिषद् द्वारा प्रस्तावित समस्त संशोधनों को उसमें स्थान प्रदान करे अथवा न करे। यदि समिति कुछ संशोधनों को स्वीकार भी कर लेती है तो वह प्रस्ताव उन्हीं संशोधनों सहित दोनों भवनों द्वारा स्वीकृत मान लिया जाता है। यदि समिति इन संशोधनों को स्वीकार नहीं करती तो वह प्रस्ताव उन संशोधनों रहित ही स्वीकृत माना जाएगा। इस सम्बन्ध में विधान के अन्तर्गत आर्थिक प्रस्ताव वह हैं जिसका सम्बन्ध निम्नलिखित एक अथवा समस्त विषयों से हो :—

(१) किसी कर को लागू करने, समाप्त करने, परिवर्तित करने, व्यवस्थित करने तथा चुकाने से;

(२) ऋण लेने अथवा राज्य द्वारा कोई अनुग्रह प्रदान करने अथवा राज्य के किसी आर्थिक कर्तव्य से सम्बन्धित कानून के संशोधन से;

(३) राज्य के संचित धन के संरक्षण से अथवा आकस्मिक घटना सम्बन्धी धन से, तथा इस प्रकार के धन में और धन संचित करने तथा धन लेने से;

(४) राज्य के संचित धन में से धन के विनियोग से;

(५) इस प्रकार के धन को राज्य के संचित धन के अन्तर्गत घोषित करने अथवा इस प्रकार के व्यय में वृद्धि करने से;

(६) राज्य के संचित धन की आय में धन की प्राप्ति, अथवा राज्य की जनता के व्योरे अथवा इस प्रकार के धन को संचित करने अथवा राज्य के हिसाब के निरीक्षण से; अथवा

(७) उपर्युक्त धाराओं से सम्बन्धित किसी विषय के सम्बन्ध में किसी आकस्मिक विषय से।

इसके अतिरिक्त केवल उपर्युक्त विषयों से सम्बन्ध रखने वाला प्रस्ताव ही आर्थिक प्रस्ताव नहीं माना जाएगा, बल्कि किसी प्रस्ताव के सम्बन्ध में यदि यह प्रश्न उठे कि वह प्रस्ताव आर्थिक प्रस्ताव है अथवा नहीं, तो व्यवस्थापक समिति के अध्यक्ष का निर्णय सर्वमान्य और अन्तिम होगा। इस प्रकार के प्रस्ताव को व्यवस्थापक परिषद् अथवा राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के पास भेजते समय अध्यक्ष उस प्रस्ताव के साथ एक प्रमाण पत्र भी भेजेगा कि वह प्रस्ताव आर्थिक प्रस्ताव है।

आर्थिक कार्य-प्रणाली

प्रत्येक वर्ष के आरम्भ में व्यवस्थापिका सभा के सन्मुख राज्य के अनुमानित आय-व्यय का ब्योरा उपस्थित किया जाता है। आय की जो प्राप्ति होती है वह कर द्वारा होती है। कर लगाने का प्रस्ताव सरकार उपस्थित करेगी और उस पर व्यवस्थापिका सभा की स्वीकृति आवश्यक होगी। जिन करों को राज्य की सरकार लेने के लिए अधिकृत है उन करों के सम्बन्ध में भी राज्य को व्यवस्थापिका सभा की स्वीकृति आवश्यक होगी। कर लगाने का प्रस्ताव राज्यपाल अथवा राजप्रमुख की स्वीकृति बिना उपस्थित नहीं किए जा सकेंगे। परन्तु किसी कर को कम करने अथवा समाप्त करने के सम्बन्ध में संशोधन उपस्थित करने का पूर्ण अधिकार राज्य की व्यवस्थापिक सभा को होगा।

व्यय के अन्तर्गत कुछ शीर्षक इस प्रकार के होंगे जो राज्य के संचित धन के लिए जाएँगे। इस प्रकार के व्यय के शीर्षकों के सम्बन्ध में राज्य की व्यवस्थापिका सभा को मतदान का अधिकार नहीं होगा। यद्यपि इन व्ययों के सम्बन्ध में राज्य की व्यवस्थापिका सभा की स्वीकृति नहीं ली जा सकेगी परन्तु व्यवस्थापिका सभा इन व्ययों पर वाद विवाद तथा विचार कर सकेगी। यह व्यय हैं—राज्यपाल, प्रथम भवन के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष, द्वितीय भवन (जहाँ दो भवन हैं) के सभापति और उप सभापति तथा हाई कोर्ट के न्यायाधीशों का वेतन और भत्ता; ऋण सम्बन्धी व्यय जिसके लिए राज्य उत्तरदायी हो; और किसी न्यायालय द्वारा घोषित किसी पारितोषिक अथवा डिग्री की पूर्णता के लिए। व्यय के अन्य समस्त व्योरा पर व्यवस्थापिका सभा की स्वीकृति आवश्यक होगी। यह समस्त व्यय अनुदान के रूप में व्यवस्थापिका सभा के सन्मुख माँग के रूप में उपस्थित किए जाएँगे। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख की स्वीकृति बिना कोई माँग उपस्थित नहीं की जा सकेगी। इसका यही तात्पर्य हुआ कि व्यय का धन सरकार द्वारा ही माँगा जा सकता है। इन प्रस्तावों पर स्वीकृति प्रदान करना अथवा न करना यह व्यवस्थापिका सभा का कार्य है।

प्रस्ताव से सम्बन्धित स्वीकृति और निषेधाधिकार

जब कोई प्रस्ताव किसी राज्य के भवन अथवा भवनों द्वारा पास हो जाएगा तो उसे राज्यपाल अथवा राजप्रमुख की स्वीकृति के लिए भेजा जाएगा। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को उस प्रस्ताव को स्वीकृत-अस्वीकृत करने अथवा उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के हेतु सुरक्षित रखने का अधिकार होगा। यदि वह प्रस्ताव आय प्रस्ताव नहीं होगा तो राज्यपाल अथवा राजप्रमुख शीघ्रतिशीघ्र उस प्रस्ताव को व्यवस्थापिक सभा को पुनर्विचार के हेतु लौटा देगा। भवन उस प्रस्ताव को संशोधन सहित अथवा रहित पास करके जब राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के पास भेजेंगे तो वह उस प

अपनी अस्वीकृति प्रदान न कर स्वीकृति ही प्रदान करेगा। इसके विपरीत विधान के अन्तर्गत यह प्रतिपादित किया गया है कि राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को किसी प्रस्ताव को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रख लेना चाहिए यदि :—

(१) उस प्रस्ताव का सम्बन्ध किसी ऐसी सम्पत्ति से हो जो राज्य को प्राप्त होने वाली हो;

(२) उम प्रस्ताव का सम्बन्ध एकीभूत तालिका उद्धृत विषयों से हो और राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को यह अनुभव हो कि इस प्रकार के कानून से संघीय कानून का विरोध होगा;

(३) उस प्रस्ताव का विषय किन्हीं ऐसी वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कर लगाना हो जिन्हें संसद ने जनता के जीवन के लिए अनिवार्य घोषित किया हो; अथवा

(४) उस प्रस्ताव का विषय ऐसा हो जिससे कि हाई कोर्ट के अधिकार अथवा स्थिति को हानि पहुँचाने की सम्भावना हो। प्रथम तीन बातों में राष्ट्रपति की स्वीकृति बिना वह प्रस्ताव कानून नहीं बन सकता। जो प्रस्ताव राष्ट्रपति की स्वीकृति के हेतु सुरक्षित रखे जाते हैं, उन प्रस्तावों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह स्वीकृति-अस्वीकृति प्रदान करे। अस्वीकृति के सम्बन्ध में, यदि वह आय प्रस्ताव नहीं है—तो राष्ट्रपति उस प्रस्ताव को कुछ संशोधन अथवा पुनर्विचार के हेतु राज्यपाल अथवा राजप्रमुख द्वारा राज्य की व्यवस्थापिका सभा के पास भेज सकता है। इस प्रकार लौटाए गए प्रस्ताव पर व्यवस्थापिका सभा विचार करेगी और संशोधन सहित अथवा रहित रूप से उसकी प्राप्ति के दिनांक से ६ मास के समय में उसे पास करके फिर राष्ट्रपति के विचारार्थ भेज देगी। राष्ट्रपति की स्वीकृति से सम्बन्धित धाराएँ यह स्पष्ट नहीं करती कि व्यवस्थापिका सभा राष्ट्रपति के निषेधाधिकार को ठुकरा सकती है या नहीं।

व्यवस्थापक शक्ति

सम्पूर्ण राज्य अथवा उसके किसी भी भाग के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका सभा को कानून बनाने का अधिकार है। राजकीय तालिका में उल्लिखित विषयों के सम्बन्ध में उसे कानून-निर्माण का पूर्ण अधिकार है। इसके अतिरिक्त एकीभूत तालिका में उद्धृत विषयों के सम्बन्ध में भी व्यवस्थापिका सभा कानूनों का निर्माण कर सकती है, परन्तु इस सम्बन्ध में संसद भी कानून-निर्माण करती है। यदि एकीभूत तालिका में उद्धृत किसी एक विषय के सम्बन्ध में राज्य और संसद दोनों की व्यवस्थापिका सभाएँ कानून का निर्माण करें तो राज्य की व्यवस्थापिका सभा का कानून जिस सीमा तक संसद के कानून का विरोध कर रहा होगा, उसी सीमा तक वह अवैध घोषित किया जाएगा।

(२) केन्द्र द्वारा शासित राज्य

विधान के अन्तर्गत यह स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रथम नामावली के भाग 'स' और 'द' में जो राज्य उल्लिखित हैं उनके सम्बन्ध में संसद को केवल व्यवस्थापक अधिकार ही नहीं वरन् आर्थिक अधिकार भी प्राप्त हैं। यह राज्य केन्द्र द्वारा शासित राज्य कहलाते हैं। परन्तु यह अधिकार प्रत्येक स्थान पर लागू नहीं हो सकते। भाग 'स' में उद्धृत राज्यों में कुर्ग भी है जिसमें एक व्यवस्थापक परिषद् पूर्व के समान कार्य करती रहेगी जब तक कि संसद इस सम्बन्ध में कोई कानून न बनाए। इस सम्बन्ध में संसद को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि विधान की धाराओं में संशोधन कर सके और इस भाग के किसी राज्य अथवा वर्ग के लिए एक ऐसी संस्था की नियुक्ति करे अथवा उसके निर्वाचन का प्रबन्ध करे अथवा उसमें कुछ निर्वाचित सदस्य रखे और कुछ सदस्यों की नियुक्ति करे, जो किसी राज्य के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका सभा का कार्य कर सके। इस प्रकार की संस्था को संसद के कानून द्वारा ही अधिकार और कार्य भी सौंपे जाएंगे। इस सम्बन्ध में संसद के इस प्रकार के कार्यों के सम्पादन के लिए ३ बहुमत की आवश्यकता नहीं होगी जिस प्रकार कि अन्य संशोधनों के लिए होती है।

इसके अतिरिक्त भाग 'द' में उद्धृत राज्यों के सम्बन्ध में संसद का कानून बनाने का अधिकार राष्ट्रपति के एक अधिकार से प्रतिबन्धित होता है क्योंकि राष्ट्रपति भी इस प्रकार के राज्यों की शान्ति और सुरक्षा के हेतु नियम बना सकता है। इस प्रकार के राज्य में लागू किसी अन्य कानून अथवा संसद के कानून को राष्ट्रपति द्वारा निर्मित नियम खण्डित एवं संशोधित कर सकता है। इस प्रकार निर्मित राष्ट्रपति के नियमों का प्रभाव संसद के एकट के समान होगा और यह उसी प्रकार लागू भी किए जाएंगे। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति के अधिकारों में आर्थिक अधिकार सम्मिलित नहीं। आर्थिक अधिकारों के सम्बन्ध में संसद की सत्ता सर्वोच्च होगी।

दसवाँ अध्याय

राज्य की कार्यकारिणी

“एक स्वतन्त्र और पृथक् अध्यक्ष, जो दल बन्दी और स्थानीय राजनीति से प्रभावित न होता हो, शासन की सुविधापूर्ण कार्य प्रणाली में प्रायः एक महत्वपूर्ण भाग ले सकता है। मन्त्रीगण आते हैं, और चले जाते हैं और यह सम्भव है कि कुछ दलों के हाथों में सदैव शक्ति न रहे। शीघ्रता से परिवर्तित होने वाली राजनीति में राज्यपाल, जिसकी स्थिति नियुक्त करने वाले पदाधिकारी अर्थात् राष्ट्रपति की अप्रसन्नता के अतिरिक्त अत्यन्त दृढ़ होती है, राज्य सरकार की शक्ति को हथियाने के लिए पारस्परिक वैमनस्य से परिपूर्ण दलों पर पूर्ण एवं प्रभावपूर्ण अधिकार जमा सकता है।”

—श्री एन. आर. राघवाचारी.

राज्यों की कार्यकारिणी का अध्ययन भी राज्यों की व्यवस्थापिका सभाओं के अध्ययन के अनुसार निम्नलिखित दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

(१) स्वतन्त्र राज्यों की कार्यकारिणी।

(२) केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्रों की कार्यकारिणी। इन दोनों शीर्षकों का विस्तृत विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

1. “An independent and detached head, who is not influenced by party passions or local politics, can often play a very useful role in the smooth working of the governmental machinery. Ministers may come and ministers may go, and the same parties may not always be in power. In times of quick-changing politics, a Governor, whose position is unshakable except by the displeasure of the appointing authority, namely, the President, can bring to bear a wholesome and effective influence upon what may be warring elements contending for power in the State Government.”

—Sri N. R. Raghavachari.

(१) स्वतन्त्र राज्यों की कार्यकारिणी

प्रथम नामावली के भाग 'अ' और 'ब' में उल्लिखित राज्य स्वतंत्र हैं, तथा भारतवर्ष के शेष राज्य और स्थान केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित हैं। विधान के अन्तर्गत स्वतंत्र राज्यों की सरकार के विभिन्न अंगों के स्वरूप और अधिकारों का प्रतिपादन कर दिया गया है, और शेष को भविष्य में होने वाले विधान के संशोधनों के आश्रय में छोड़ दिया गया है।

(अ) राज्यपाल अथवा राजप्रमुख

नियुक्त, अवधि, आदि—

प्रथम नामावली के भाग 'अ' में उद्धृत प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल और प्रथम नामावली के भाग 'ब' में उद्धृत प्रत्येक राज्य के लिए एक राजप्रमुख की नियुक्ति की जाएगी, जो अपने-अपने राज्य के शासन प्रबन्ध के संचालन के अधिकारी होंगे। यद्यपि राज्यपाल और राजप्रमुख के अधिकारों में कोई विशेष अन्तर नहीं परन्तु उनकी नियुक्ति और उनकी प्रणाली तथा उनके पद से सम्बन्धित अन्य नियमों में यथेष्ट अन्तर है। इसके अतिरिक्त राजप्रमुख के अधिकारों पर अस्थायी समय के लिए कुछ प्रतिबन्ध भी प्रस्तावित किए गए हैं।

राज्यपाल

राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करेंगे और उन्हीं के प्रति विश्वासी रह कर वह अपने पद पर आसीन रह सकेगा। इसके अतिरिक्त राज्यपाल अपने पद से त्याग पत्र भी दे सकता है। सामान्य रूप से राज्यपाल का कार्य-काल पाँच वर्ष होगा, और अपनी अवधि समाप्त होने के पश्चात् भी वह उस समय तक अपने पद पर आसीन रहेगा जब तक कि उसका उत्तराधिकारी उस पद को ग्रहण न कर ले। राज्यपाल का पद ग्रहण करने के लिए एक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह भारतवर्ष का नागरिक हो और उसकी आयु ३५ वर्ष अथवा इससे अधिक हो। राज्यपाल संसद अथवा किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन का सदस्य नहीं होना चाहिए, और यदि वह होगा भी तो जिस दिन वह राज्यपाल का पद ग्रहण करेगा उस दिन से उस भवन का वह स्थान रिक्त माना जाएगा। इसके अतिरिक्त वह अन्य किसी ऐसे पद को ग्रहण नहीं कर सकेगा, जिससे उसे लाभ की प्राप्ति होती हो। राज्यपाल को सरकारी रूप से निवास के हेतु भवन प्रदान किया जाएगा तथा इसके अतिरिक्त उसका वेतन, भत्ता तथा अन्य सुविधाएँ संसद के एक कानून द्वारा निश्चित की जाएँगी। जब तक संसद इस सम्बन्ध में किसी कानून का निर्माण करे, उस समय तक राज्यपाल को ₹५००) मासिक वेतन तथा वह भत्ता और अन्य सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी जो इस

विधान के लागू होने के पूर्व प्रान्तीय गवर्नरों को मिलती थीं। राज्यपाल का वेतन तथा अन्य सुविधाएँ उसके कार्य-काल में कम नहीं की जा सकेंगी।

राजप्रमुख

विधान के अन्तर्गत 'राजप्रमुख' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि राज-प्रमुख वह पदाधिकारी होगा जिसे राष्ट्रपति प्रथम नामावली के भाग 'ब' में उल्लिखित राज्यों के राजप्रमुख के रूप में स्वीकार करेगा।¹ इसके विपरीत हैदराबाद तथा जम्मू और काश्मीर अथवा मैसूर के सम्बन्ध में राजप्रमुख वह व्यक्ति होगा जिसे राष्ट्रपति कुछ समय के लिए हैदराबाद के निज़ाम अथवा उन दो राज्यों के महाराजा के रूप में स्वीकार करले। हैदराबाद, जम्मू और काश्मीर और मैसूर में राजप्रमुख की नियुक्ति उत्तराधिकार के नियमों के अन्तर्गत की जाएगी। इस प्रकार नियुक्त किए गए राज-प्रमुख का भी राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत होना आवश्यक है। प्रथम नामावली में उद्धृत अन्य राज्यों के राजप्रमुखों की नियुक्ति तथा राष्ट्रपति की स्वीकृति उस समझौते के आधार पर होगी जो इस विधान के लागू होने से पूर्वदेशी राज्यों के शासकों ने किया था। उपर्युक्त तीन राज्यों के अतिरिक्त अन्य राज्यों के राजप्रमुखों का कार्य-काल पाँच वर्ष होगा, तथा इस अवधि से पूर्व भी राजप्रमुख समझौते में प्रतिपादित रीति के अनुसार अपने पद को त्याग सकेगा। राज्यपाल के समान राजप्रमुख भी संसद अथवा किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन का सदस्य नहीं होना चाहिए, और यदि वह होगा भी तो जिस दिन से वह राजप्रमुख का पद ग्रहण करेगा उसी दिन से उस भवन की वह सीट रिक्त मानी जाएगी। इसी प्रकार राजप्रमुख भी अन्य कोई ऐसा पद ग्रहण नहीं कर सकेगा जिससे उसे लाभ की प्राप्ति होती हो। इसके विपरीत राजप्रमुख का वेतन समझौते में पूर्व से ही निश्चित कर दिया गया है, और उसका भत्ता तथा अन्य सुविधाएँ राष्ट्रपति एक सामान्य अथवा विशेष आदेश द्वारा निश्चित करेगा तथा उसके कार्य-काल में उसके वेतन आदि में कमी नहीं की जा सकेगी। सरकारी रूप से राजप्रमुख को भवन उसी समय प्रदान किया जाएगा जब कि राज्य की सरकार के विशेष निवास स्थान में उसका स्वयं का भवन न हो।

राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के अधिकार

किसी राज्य के शासन प्रबन्ध के संचालन का अधिकार राज्यपाल अथवा राज-प्रमुख को होगा। विधान की धाराओं के अन्तर्गत राज्य के शासन प्रबन्ध का अधिकार उन विषयों से सम्बन्धित है जिनके सम्बन्ध में व्यवस्थापिका सभा को कानून-निर्माण का अधिकार है। राज्यपाल अपने इस अधिकार का प्रयोग स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अथवा अपने आधीन पदाधिकारियों द्वारा करेगा। विधान के अन्तर्गत यह प्रस्तावित

¹ धारा ३६६

किया गया है कि राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को उसके कार्य में सहायता तथा सम्मति प्रदान करने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगा जिसका नेता मुख्य मंत्री कहलाएगा। यह मन्त्रि-परिषद् राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को उन्हीं विषयों के सम्बन्ध में सहायता एवं सम्मति प्रदान करेगी जिन विषयों के संचालन का अधिकार इन्हें विधान द्वारा प्राप्त है। जिन विषयों के सम्बन्ध में राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को विवेकाधिकार के अन्तर्गत कार्य करने का अधिकार है, उन विषयों के सम्बन्ध में भी मन्त्रि-परिषद् इन्हें सहायता एवं सम्मति प्रदान कर सकेगी। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के विवेकाधिकारों की संख्या अत्यन्त न्यून है। आसाम के राज्यपाल के विवेकाधिकार अधिक विस्तृत हैं क्योंकि उस पर सीमान्त प्रदेश तथा पिछड़े हुए वर्ग के शासन का भार भी है। जिन विषयों के सम्बन्ध में राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को विशेष रूप से विवेकाधिकार प्रयोग करने का अधिकार प्रदान किया गया है, उन विषयों के अतिरिक्त अन्य विषयों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि राज्यपाल अथवा राजप्रमुख अपनी मन्त्रि-परिषद् की सम्मति को स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं अथवा नहीं। परन्तु इस सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भाग 'अ' और 'ब' में उल्लिखित राज्यों की सरकारें अधिक उत्तरदायी होंगी क्योंकि राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के विवेकाधिकार अत्यन्त सीमित हैं। उनके यह विवेकाधिकार व्यवस्थापक समिति (Legislative Assembly) को विसर्जित करने, व्यवस्थापक समिति में किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत न होने पर मुख्य मंत्री की नियुक्ति करने व्यवस्थापिका सभा द्वारा स्वीकृत किसी प्रस्ताव के सम्बन्ध में अपनी स्वीकृति प्रदान न करने तथा किसी प्रस्ताव को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखने, इत्यादि तक ही सीमित हैं। राष्ट्रपति के समान राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को भी इस बात की शपथ लेनी पड़ती है कि वह 'विधान और कानून की रक्षा करेगा और उन्हें सुरक्षित रखेगा' और स्वयं को राज्य की 'जनता की सेवा और हित के लिए' अर्पित कर देगा। शपथ लेने से वास्तव में उसके पद के उत्तरदायित्व में वृद्धि ही होती है। परन्तु वह जनता का निर्वाचित प्रतिनिधि न होने के कारण मन्त्रि-परिषद् का, जिन्हें जनता की सहायता प्राप्त होती है, प्रतियोगी नहीं बन सकता। यह उत्तम ही है कि कनाडा के समान यहाँ भी प्रथम नामावली के भाग 'अ' में उद्धृत राज्यों के लिए राज्यपाल की नियुक्ति के लिए उस राज्य की मन्त्रि परिषद् से विचार विमर्श किया जाने लगे। इस प्रकार राज्यपाल जनता की आकांक्षाओं का अनादर कठिनाई से कर सकेगा क्योंकि उसके कार्यों का सम्पादन अधिकतर मन्त्रि-परिषद् ही करेगी, यहाँ तक कि जिन विषयों के सम्बन्ध में उसे व्यक्तिगत निर्णय का अधिकार होभा, उन विषयों के सम्बन्ध में भी मन्त्रि-परिषद् सर्वे-सर्वा होगी। इस प्रकार यही आशा की जाती है कि अपने समस्त अधिकारों—शासन सम्बन्धी, व्यवस्थापक, आर्थिक अथवा न्याय व्यवस्था सम्बन्धी—के प्रयोग में उसका पथ-प्रदर्शन मन्त्रि-मण्डल

ही करेगा। सारांश में यहाँ कहा जा सकता है कि राज्य के शासन प्रबन्ध में राज्यपाल का प्रभाव और उसके अधिकार उसके व्यक्तित्व और उसकी प्रतिष्ठा पर निर्भर होंगे।

शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी अधिकार

जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है राज्य के शासन प्रबन्ध के अधिकार का प्रयोग राज्यपाल अथवा राजप्रमुख स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अथवा अपने आधीन पदाधिकारियों द्वारा करेगा। किसी राज्य की कार्यकारिणी शक्ति उन विषयों की सीमा तक सर्वोच्च रहेगी जिन विषयों के सम्बन्ध में वहाँ की व्यवस्थापिका सभा कानून निर्माण के लिए पूर्णरूप से अधिकृत होगी। परन्तु एकीभूत तालिका में उद्धृत विषयों तथा संघ द्वारा प्रदान किए गए अधिकारों के सम्बन्ध में राज्य की कार्यकारिणी शक्ति संघ के आधीन होगी। किसी राज्य की सरकार के सुविधाजनक संचालन के सम्बन्ध में वहाँ के राज्यपाल अथवा राजप्रमुख भी कुछ नियमों का निर्माण करेंगे, तथा मुख्य मन्त्री की नियुक्ति और उसकी सम्मति से अन्य मंत्रियों के सुविधापूर्ण कार्य-सम्पादन के सम्बन्ध में भी वे कुछ नियमों का निर्माण करेंगे। इसके अतिरिक्त राज्य के एडवोकेट जनरल, पब्लिक सर्विस कमिशन के सदस्य तथा अध्यक्ष, और हाई कोर्ट की सम्मति से राज्य के अन्य न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति भी राज्यपाल अथवा राजप्रमुख ही करेंगे। किसी राज्य के शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित प्रत्येक पदाधिकारी राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के प्रति विश्वासी रह कर ही अपने पद पर आसीन रह सकेगा। संकटकालीन अवस्था अथवा कुछ असाधारण परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर राष्ट्रपति को इस प्रकार की सूचना देना राज्यपाल अथवा राजप्रमुख का ही कर्तव्य है कि उस प्रकार की परिस्थितियों में विधान की धाराओं के अनुसार राज्य का शासन प्रबन्ध नहीं किया जा सकता।

व्यवस्थापक अधिकार

राज्यपाल अथवा राजप्रमुख व्यवस्थापिका सभा का एक अंग होता है, तथा जिन राज्यों में व्यवस्थापक परिषद् (Legislative Council) की व्यवस्था की गई है वहाँ इसे व्यवस्थापक परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति करने का अधिकार प्राप्त है। इसके अतिरिक्त यदि राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को यह अनुभव हो कि व्यवस्थापक समिति में ऐंग्लो-इण्डियन जाति को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है तो इस विधान के लागू होने के दिनांक से दस वर्षों तक के लिए वह व्यवस्थापक परिषद् में इस जाति के दो प्रतिनिधि नियुक्त कर सकता है। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख व्यवस्थापिका सभा के भवन अथवा भवनों को आमन्त्रित कर सकता है, उन्हें कुछ काल के लिए स्थगित कर सकता है तथा व्यवस्थापक समिति को विसर्जित कर सकता है। अधिवेशन के हेतु एकत्रित भवन अथवा भवनों में राज्यपाल अथवा राजप्रमुख अधिवेशन के प्रारम्भ होने पर भाषण दे सकता है। इसके अतिरिक्त किसी भी समय

वह इन भवनों में भाषण दे सकता है तथा अपनी सूचना इनके पास भिजवा सकता है। किसी प्रस्ताव के भवन अथवा भवनों द्वारा स्वीकृत हो जाने पर वह प्रस्ताव राज्यपाल अथवा राजप्रमुख की स्वीकृत के हेतु उनके सन्मुख उपस्थित किया जाता है। इस प्रकार के प्रस्तावों पर वह अपनी स्वीकृति-अस्वीकृति प्रदान कर सकता है अथवा उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रख सकता है। आर्थिक प्रस्तावों के अतिरिक्त अन्य प्रस्तावों को वह पुनर्विचार के लिए भवन अथवा भवनों के पास भेज सकता है, परन्तु यदि वह प्रस्ताव संशोधन सहित अथवा रहित, फिर से पास कर दिया जाता है तो वह उसे अस्वीकृत नहीं करेगा। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के अनुग्रह बिना आय प्रस्ताव अथवा कोई अन्य आर्थिक प्रस्ताव अथवा कोई माँग व्यवस्थापक समिति में उपस्थित नहीं की जा सकेगी। किसी कर को घटाने अथवा समाप्त करने से सम्बन्धित धाराओं का निर्माण करने के अतिरिक्त आर्थिक प्रस्तावों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का संशोधन राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के अनुग्रह बिना उपस्थित नहीं किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त जब व्यवस्थापिका सभा का अधिवेशन न हो रहा हो तो राज्यपाल अथवा राजप्रमुख आर्डिनेन्स लागू कर सकता है। इस प्रकार के आर्डिनेन्स, यदि राज्यपाल अथवा राजप्रमुख ने न लौटाए तो, व्यवस्थापिका सभा के अधिवेशन के आरम्भ होने के दिनांक से ६ सप्ताह पश्चात् समाप्त हो जाएँगे। इस अवधि से पूर्व यदि व्यवस्थापक समिति आर्डिनेन्स को समाप्त करने का प्रस्ताव पास कर दे और व्यवस्थापक परिषद् (जहाँ यह भवन स्थापित हो) भी इस प्रकार के प्रस्ताव पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दे तो यह आर्डिनेन्स अवधि से पूर्व ही समाप्त हो जाएगा। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख का आर्डिनेन्स लागू करने का अधिकार राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के कारण और भी अधिक सीमित हो गया है (१) यदि विधान के अन्तर्गत उन्हीं धाराओं के एक प्रस्ताव को व्यवस्थापिका सभा में उपस्थित करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्वस्वीकृति की आवश्यकता होती, अथवा (२) उन्हीं धाराओं के किसी प्रस्ताव को यदि राज्यपाल अथवा राजप्रमुख राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखना उचित समझते; अथवा (३) यदि किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा का कोई ऐसा पक्ष जिसमें यही धाराएँ होतीं, विधान के अन्तर्गत अवैध होता जब तक कि उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित न रखा जाता और उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त न हो जाती।

आर्थिक अधिकार

किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के भवन अथवा भवनों के सन्मुख अनुमानित आय-व्यय के वार्षिक व्योरे को उपस्थित करना राज्यपाल अथवा राजप्रमुख का कर्तव्य है। यह अन्यत्र भी लिखा जा चुका है कि कोई आय प्रस्ताव अथवा कोई अन्य आर्थिक प्रस्ताव अथवा कोई माँग राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के अनुग्रह बिना किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के सन्मुख उपस्थित नहीं किया जा सकेगा। किसी प्रकार

के अन्य व्यय से सम्बन्धित सहायक अनुदान की माँग भी राज्यपाल अथवा राजप्रमुख ही व्यवस्थापक समिति के सम्मुख उपस्थित करेगा। राज्य के “आकस्मिक घटना सम्बन्धी धन”^१ को जो उस राज्य की व्यवस्थापिका सभा के कानून द्वारा स्थापित होता है, राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को पूर्ण रूप से सौंप दिया जाएगा जिससे कि वह श्रैलक्षित एवं आकस्मिक व्यय को पूर्ण कर सके।

न्याय-व्यवस्था सम्बन्धी अधिकार

किसी राज्य के राज्यपाल को ऐसे विषयों से सम्बन्धित कानून के विरुद्ध अप-राधी घोषित किए गए व्यक्ति को क्षमा प्रदान करने, प्राणदण्ड को कुछ काल के लिए स्थगित करने, अथवा दण्ड में कुछ विलम्ब करने अथवा दण्ड की आज्ञा को स्थगित करने, दण्ड कम करने, तथा बदलने का अधिकार होगा, जो राज्य की कार्यकारिणी शक्ति के क्षेत्र के अन्तर्गत हैं।

(ब) मन्त्रि-परिषद्

नियुक्ति, वेतन आदि :—

संघ के समान, विधान की प्रथम नामावली के भाग ‘अ’ और ‘ब’ में उद्धृत प्रत्येक राज्य में एक मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था की गई है जिसका नेता मुख्य मंत्री कहलाएगा और जिसका कार्य राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को उसके कार्यों के सम्पादन के हेतु सहायता और सम्मति प्रदान करना होगा। बिहार, मध्यप्रदेश, उड़ीसा और मध्य भारत में एक मंत्री पिछड़े हुए तथा दलित वर्गों के हित की सुरक्षा के लिए रखा जाएगा। मुख्य मंत्री की नियुक्ति राज्यपाल अथवा राजप्रमुख करेगा और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति भी मुख्य मंत्री की सम्मति से वही करेगा। व्यक्तिगत रूप से मंत्री-गण राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के प्रति विश्वासी रह कर ही अपने पद पर आसीन रह सकेंगे, परन्तु संयुक्त रूप से मन्त्री-परिषद् राज्य की व्यवस्थापक समिति के प्रति उत्तरदायी होगी। यदि कोई मंत्री ६ मास तक राज्य की व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन की सदस्यता ग्रहण करने में असफल सिद्ध होगा तो उस अवधि की समाप्ति पर उससे मंत्री का पद छीन लिया जाएगा। विधान के नियमों के अनुसार राज्यपाल अथवा राजप्रमुख प्रत्येक मंत्री को उसे उसके पद ग्रहण करने से पूर्व ही गुप्तता की शपथ ग्रहण कराएगा। मंत्रियों का वेतन राज्य की व्यवस्थापिका सभा द्वारा समय-समय पर निश्चित किया जाएगा।

मन्त्रिपरिषद् के अधिकार

यद्यपि राज्य की कार्यकारिणी शक्ति का अधिकारी राज्यपाल अथवा राजप्रमुख होता है परन्तु वह अपने इस अधिकार का प्रयोग केवल मन्त्रि परिषद् द्वारा ही करता

1. Contingency Fund.

है। मन्त्रि-परिषद् राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के नाम में ही इस कार्य का सम्पादन करती है। वैधानिक रूप से किसी राज्य के शासन प्रबन्ध के सुविधापूर्ण संचालन तथा मन्त्रियों के कार्यक्रम को सरल एवं सुबोध गति के हेतु नियम निर्माण राज्यपाल अथवा राजप्रमुख ही करेगा। यह नियम केवल उन विषयों से सम्बन्धित होंगे जिनके सम्बन्ध में वह अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत कार्य नहीं करेगा। विधान के अनुसार राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के विवेकाधिकार के अन्तर्गत आनेवाले विषयों के अतिरिक्त अन्य विषयों के सम्पादन के हेतु मन्त्रिपरिषद् उसे सहायता तथा सम्मति प्रदान करेगी। परन्तु व्यावहारिक रूप में मन्त्रिपरिषद् ही शासन प्रबन्ध का संचालन करेगी। यह बात आसाम राज्य के सीमान्त तथा पिछड़े हुए क्षेत्रों के शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में लागू नहीं होती। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख से यही आशा की जाती है कि वह मन्त्रि-परिषद् की सम्मति को नहीं टुकराएगा तथा शासन प्रबन्ध में किसी प्रकार का अनुचित हस्तक्षेप नहीं करेगा। यदि वह ऐसा करता है तो निःसन्देह रूप से उसे एक कठिन कार्य का भार अपने पर और लेना पड़ेगा—और वह कार्य होगा नवीन मन्त्रि परिषद् की खोज, क्योंकि बहुमत का भोग करने वाले मन्त्रिमण्डल से वह सहमत नहीं था। इस हेतु राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के समस्त अधिकारों का प्रयोग मन्त्रि परिषद् करती है। विशेष अथवा असाधारण परिस्थितियों तथा विवेकाधिकार के अन्तर्गत आने वाले कार्यों के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त लागू नहीं होगा। व्यक्तिगत निर्णय द्वारा कार्य करते समय भी राज्यपाल अथवा राजप्रमुख अपने मन्त्रिमण्डल से सम्मति लेगा। शासन सम्बन्धी अधिकारों के अतिरिक्त अपने बहुमत के कारण मन्त्रिपरिषद् का कानून निर्माण पर भी यथेष्ट प्रभाव होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राज्य का व्यवस्थापक कार्यक्रम एक प्रकार से सरकारी ही होगा और इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण कदम सबसे प्रथम मन्त्रि-परिषद् द्वारा ही उठाए जाएँगे। व्यवस्थापिका सभा की समितियों के निर्माण पर भी मन्त्रिपरिषद् का निरीक्षण होगा। यह समितियाँ व्यवस्थापिका सभा की स्वीकृति के लिए प्रस्तावों के सम्बन्ध में अनुग्रह प्रदान करेंगी। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के आर्थिक अधिकारों का प्रयोगकर्ता मन्त्रिमण्डल ही होगा, और क्योंकि व्यवस्थापिका सभा के आर्थिक अधिकार विधान द्वारा अत्यन्त संकुचित एवं सीमित कर दिए गए हैं, इसलिए उनका तात्पर्य भी मन्त्रिमण्डल के अधिकार से ही होगा। राज्य की आय को व्यय के विभिन्न शांखों में वितरित करने और आवश्यकता तथा परिस्थिति के अनुसार कर लगाने का कार्य मन्त्रि परिषद् का ही है। परन्तु अंतिम सीढ़ी पर मन्त्रि-परिषद् के अधिकारों को व्यर्थ बनाने वाली एवं उन्हें जकड़ देने वाली एक अत्यन्त दृढ़ श्रृंखला भी है, और वह श्रृंखला है राज्य की व्यवस्थापक समिति के बहुमत की सहायता।

इस प्रकार विधान द्वारा राज्यों में उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की गई है। विधान के अंतर्गत यह प्रतिपादित किया गया है कि यदि मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापक

समिति के बहुमत के विश्वास को खो देता है तो उसे तुरन्त ही त्यागपत्र उपस्थित कर देना चाहिए। व्यवस्थापिका सभा के प्रति मंत्रिमण्डल का यह उत्तरदायित्व संयुक्त होगा, अर्थात् एक मंत्री की पराजय अथवा एक मंत्री की नीति के प्रति अविश्वास का तात्पर्य पूरी मंत्रिपरिषद् की नीति के प्रति अविश्वास होगा। इस प्रकार पूरा मंत्रिमण्डल एक सूत्र में बँधा हुआ है। मंत्रिमण्डल का निर्णय संयुक्त होगा और उसी के अनुसार वह कार्य भी करेगा। किसी मंत्री के व्यक्तिगत अतिव्रम अथवा पतन के कारण समस्त मंत्रिमण्डल उस का पक्ष ग्रहण नहीं करेगा। इस प्रकार की परिस्थिति में मुख्य मंत्री उस मंत्री से त्यागपत्र उपस्थित करने के लिए कह सकता है। इस कार्य को विधान की निम्न धारा द्वारा व्यावहारिक रूप प्रदान किया जाएगा कि व्यक्तिगत रूप से मन्त्रीगण उसी समय तक अपने पद पर आसीन रह सकते हैं जिस समय तक वे राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के प्रति विश्वासी रहें। यद्यपि इस सम्बन्ध में मुख्य मंत्री अपने सहयोगियों के मध्य में प्रधान के रूप में कार्य करेगा, परन्तु राज्य के अग्रज द्वारा मन्त्रिमण्डल से सम्बन्धित प्रत्येक बात की सूचना भी उसी को प्रदान की जा सकती है। विधान के अन्तर्गत यह विशेष रूप से प्रतिपादित कर दिया गया है कि राज्य के शासन प्रबन्ध तथा व्यवस्थापन के प्रस्तावों के सम्बन्ध में मन्त्रि-परिषद् के समस्त निर्णयों की सूचना मुख्य मन्त्री, राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को प्रदान करेगा। इसके अतिरिक्त राज्य के शासन प्रबन्ध तथा व्यवस्थापन के प्रस्तावों से सम्बन्धित कोई प्रश्न राज्यपाल अथवा राजप्रमुख पूछता है तो उस प्रश्न से सम्बन्धित समस्त सूचना उन्हें मुख्य मन्त्री द्वारा प्राप्त होनी चाहिए। यदि किसी विषय के सम्बन्ध में किसी मन्त्री द्वारा दिए गए निर्णय पर मन्त्रि परिषद् ने विचार न किया हो तो राज्यपाल अथवा राजप्रमुख मुख्य मन्त्री को यह आदेश प्रदान कर सकता है कि उस विषय को मन्त्रि-परिषद् के विचारार्थ उपस्थित किया जाए। मुख्य मन्त्री इस आदेश के अनुसार ही कार्य करेगा। विचार विमर्ष के पश्चात् यदि परिषद् उस निर्णय को अस्वीकृत करदे तो यह सम्भव है कि उस मन्त्री को अपने पद से त्याग पत्र देना पड़े।

(२) केन्द्र द्वारा शासित राज्य और क्षेत्र

विधान के अन्तर्गत इस प्रकार के क्षेत्र दो वर्गों में प्रस्तावित किए गए हैं— प्रथम नामावली के भाग 'स' में उद्धृत राज्य, और प्रथम नामावली के भाग 'द' में उल्लिखित क्षेत्र। यद्यपि इन दोनों वर्गों का शासन संघ द्वारा होगा और दोनों का शासन सम्बन्धी उच्चतम पदाधिकारी राष्ट्रपति ही होगा, परन्तु इन दोनों वर्गों के शासन से सम्बन्धित विधान की धाराओं में अन्तर है।

(अ) भाग 'स' में उद्धृत राज्य

इस भाग में उद्धृत राज्यों का शासन प्रबन्ध राष्ट्रपति द्वारा संचालित होगा। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति चीफ कमिशनर अथवा उप-राज्यपाल (Lieutenant-Gov-

error) द्वारा कार्य करेगा। इसकी नियुक्ति राष्ट्रपति स्वयं करेगा अथवा किसी विशेष परिस्थिति में पड़ोसी राज्य की सरकार द्वारा। अन्तिम ढंग के सम्बन्ध में इस ढंग अथवा प्रणाली के राष्ट्रपति के विवेकाधिकार द्वारा निश्चित करने पर भी विधान द्वारा कुछ प्रतिबन्ध प्रस्तावित किए गए हैं। इस सम्बन्ध में विधान में प्रस्तावित किया गया है कि किसी पड़ोसी राज्य की सरकार द्वारा राष्ट्रपति उस समय तक यह कार्य न करेगा जब तक (१) उस सरकार से परामर्श न करले, और (२) इस प्रकार शासित होने वाली जनता के दृष्टिकोण तथा मत से भी परिचित होले। इस विधान के लागू होने के समय इन राज्यों के शासन प्रबन्ध के हेतु राष्ट्रपति के प्रतिनिधि की सहायता एवं सम्मति प्रदान करने के लिए मन्त्रियों अथवा परामर्शदाताओं की कोई परिषद् नहीं होगी। जहाँ कहीं इस प्रकार की परिषद् हैं वहाँ उन्हीं को स्थायी रखने इस प्रकार की नवीन परिषद् को जन्म प्रदान करने तथा मंत्रि परिषद् अथवा परामर्श-दात्री संस्था के निर्माण, अधिकार और कार्यों की स्पष्ट रूप से व्याख्या करने का अधिकार संसद को प्रदान किया गया है।

(ब) भाग 'द' में उल्लिखित क्षेत्र

भाग 'द' में दिए गए क्षेत्र तथा इस प्रकार के अन्य क्षेत्रों के शासन प्रबन्ध का संवाखन, जो नामावली में उद्धृत नहीं है, विधान के अन्तर्गत प्रस्तावित किए जाने के अनुसार, राष्ट्रपति चीफ़ कमिशनर अथवा किसी अन्य पदाधिकारी द्वारा करेगा। इस प्रकार के पदाधिकारी की नियुक्ति राष्ट्रपति स्वयं करेंगे। इन क्षेत्रों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति के अधिकार भाग 'स' में उद्धृत राज्यों से सम्बन्धित अधिकारों से कहीं अधिक हैं, क्योंकि इनके सम्बन्ध में वह व्यवस्थापन का कार्य भी करेगा। इन क्षेत्रों की शान्ति और सुरक्षा के हेतु राष्ट्रपति नियमों का निर्माण कर सकेगा। इस प्रकार निर्मित नियम संसद के किसी कानून अथवा वहाँ अस्थायी रूप से प्रचलित किसी अन्य कानून को संशोधित एवं खण्डित कर सकते हैं। इस प्रकार के नियम राष्ट्रपति द्वारा घोषित किए जाने पर संसद के एक के समान ही लागू किए जाएँगे, परन्तु केवल उसी क्षेत्र में।

ग्यारहवाँ अध्याय

राज्य के न्यायालय

“हाईकोर्ट के न्यायाधिकार वही होंगे, जिनका प्रयोग वह इस विधान के लागू होने से पूर्व करती थी; इसके साथ-साथ वह आय सम्बन्धी विषयों के सम्बन्ध में भी न्यायाधिकार का प्रयोग करेगी जिनके सम्बन्ध में विधान निर्माण से पूर्व की हाईकोर्ट मौलिक न्यायाधिकार का प्रयोग नहीं कर सकती थी। आज्ञा पत्र तथा अन्य आदेश प्रदान करने के हाईकोर्ट के अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को प्रदान किए गए अधिकारों से कहीं अधिक विस्तृत एवं उदार हैं, और राज्य अथवा किसी जनसंस्था अथवा किसी पदाधिकारी द्वारा अपहरण किए जान पर मौलिक अथवा अन्य अधिकारों की रक्षा के लिए इन्हें जाग्रत किया जा सकता है।”^१

—श्री एन. आर. राघवाचारी

(१) हाईकोर्ट

हाईकोर्ट का निर्माण

विधान के अन्तर्गत, प्रथम नामावली के भाग ‘अ’ और ‘ब’ में उद्धृत राज्यों के लिए एक एक हाईकोर्ट की व्यवस्था की गई है। इस विधान के लागू होने के पूर्व जो हाईकोर्ट जिस प्रान्त अथवा देशी राज्य में कार्य कर रही थी, इस विधान के लागू हो जाने के पश्चात वही उस राज्य की हाईकोर्ट का स्वरूप धारण कर लेगी। इसके

1. “The jurisdiction of the High Court will be the same as that which it exercised before the commencement of the Constitution with the additional jurisdiction even in respect of matters of revenue with reference to which the pre-Constitution High Court could not exercise original jurisdiction. The powers of the High Court with reference to issue of writs and other orders are more comprehensive and liberal than those given to Supreme Court, and can be invoked for the enforcement of any of the rights whether fundamental or other wise which have been infringed by the state or public body or officer.”

—Sri N. R. Raghavachari.

अतिरिक्त प्रथम नामावली के भाग 'स' में उद्धृत राज्यों के सम्बन्ध में संसद को यह अधिकार है कि वह वहाँ एक हाईकोर्ट की स्थापना कर दे, अथवा वहाँ के किसी न्यायालय को हाईकोर्ट का स्वरूप प्रदान कर दे। इस विधान के लागू होने से कुछ समय पूर्व तक जो हाईकोर्ट जिस क्षेत्र पर अपने न्यायाधिकार का प्रयोग करती थीं, इस विधान के लागू हो जाने के पश्चात् भी वे उसी क्षेत्र के सम्बन्ध में अपने न्यायाधिकार का प्रयोग करती रहेंगी। यह विधान की धाराओं तथा विधान द्वारा प्रदान किए गए कानून निर्माण के अधिकार द्वारा किसी व्यवस्थापिका सभा के बनाए गए कानून के अनुसार होगा। परन्तु प्रथम नामावली के भाग 'अ' और 'ब' में उद्धृत राज्यों की हाईकोर्ट के न्यायाधिकार अथवा अधिकार क्षेत्र को व्यापक करने अथवा बहिष्कृत करने का अधिकार केवल संसद को होगा। प्रथम नामावली के भाग 'अ' और 'ब' में उद्धृत राज्यों के हाईकोर्ट के अधिकार और कर्तव्य समान होंगे। इनसे सम्बन्धित धाराएं भाग 'स' में उद्धृत राज्यों के सम्बन्ध में भी लागू होंगी, परन्तु इस सम्बन्ध में संसद अपने कानून द्वारा कुछ संशोधन उपस्थित करेगी। परन्तु भाग 'द' में न्याय-व्यवस्था के लिए विधान में कोई धारा प्रस्तुत नहीं की गई है, इसका भार राष्ट्रपति पर छोड़ दिया गया है।

हाई कोर्ट के न्यायाधीशों का वेतन और पद सम्बन्धी शर्तें

प्रत्येक हाई कोर्ट में एक प्रधान न्यायाधीश होगा, और अन्य न्यायाधीशों की संख्या राष्ट्रपति समय समय पर उस न्यायालय की स्थिति देखकर निश्चित करेगा। हाई कोर्ट के प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति भारतवर्ष के प्रमुख न्यायाधीश और राज्यपाल अथवा राजप्रमुख से परामर्श लेकर करेगा, तथा प्रमुख न्यायाधीश के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के अवसर पर हाईकोर्ट के प्रमुख न्यायाधीश से सम्मति ली जाएगी। हाई कोर्ट का न्यायाधीश होने के लिए किसी व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह भारतवर्ष का नागरिक हो। इसके अतिरिक्त कुछ और भी आवश्यकताएँ हैं जो निम्न प्रकार से हैं :—(१) भारतवर्ष में उसने दस वर्ष तक कोई न्याय सम्बन्धी पद ग्रहण किया हो; अथवा (२) प्रथम नामावली में उद्धृत राज्यों की किसी हाई कोर्ट में दस वर्ष तक एडवोकेट रह चुका हो, अथवा एक के पश्चात् एक, दो अथवा दो से अधिक न्यायालयों का एडवोकेट रह चुका हो।

हाई कोर्ट का न्यायाधीश ६० वर्ष की आयु प्राप्त करने तक अपने पद पर रहेगा, यदि इसके पूर्व ही वह राष्ट्रपति को अपना त्याग-पत्र न सौंप दे, अथवा उसे पदस्थ कर दिया जाए, अथवा उसकी नियुक्ति सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के स्थान पर कर दी जाए, अथवा किसी अन्य हाई कोर्ट में उसका स्थान परिवर्तन कर दिया गया हो। यदि संसद के दोनों भवन किसी न्यायाधीश के कुव्यवहार अथवा उसकी अयोग्यता के कारण एक प्रस्ताव पास करके राष्ट्रपति से इस बात की प्रार्थना करते हैं कि उस न्याया-

धीश को पदस्थ कर दिया जाए। इस प्रकार का प्रस्ताव भवन के सदस्यों की कुल संख्या के बहुमत द्वारा, और उपस्थित सदस्यों के ३ बहुमत द्वारा पास होना चाहिए। जो व्यक्ति हाई कोर्ट का न्यायाधीश हो अथवा रह चुका हो, तो इस विधान के लागू होने के दिवस से वह भारतवर्ष की सीमा में स्थित किसी न्यायालय के सन्मुख पैरवी नहीं कर सकेगा।

प्रथम नामावली के भाग 'अ' में उद्धृत राज्यों की हाई कोर्ट के प्रमुख न्यायाधीश को ४०००) मासिक वेतन तथा अन्य न्यायाधीशों को ३५००) मासिक वेतन मिलेगा। भाग 'ब' में उद्धृत राज्यों की हाईकोर्ट के न्यायाधीशों के वेतन का निश्चय राष्ट्रपति राजप्रमुख से परामर्श करने के पश्चात् करेगा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक न्यायाधीश के भत्ते और अधिकार आदि संसद के एक कानून द्वारा प्रदान किए जाएंगे। परन्तु न्यायाधीश की नियुक्ति के पश्चात् यह परिवर्तित नहीं किए जा सकेंगे। हाई कोर्ट के विधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह एक न्यायाधीश को स्थान परिवर्तन करा दे, अस्थायी प्रमुख न्यायाधीश नियुक्ति कर दे, और हाई कोर्ट की बैठकों के समय अवकाश प्राप्त न्यायाधीशों की उपस्थिति का प्रबन्ध कर दे।

हाई कोर्ट के अधिकार-क्षेत्र तथा अधिकार

हाई कोर्ट का अधिकार क्षेत्र वही होगा जो इस विधान के लागू होने से पूर्व था। इस प्रकार दीवानी तथा फौजदारी दोनों विषयों का एक राज्य में सबसे अधिक उच्च न्यायालय हाई कोर्ट होगा। विधान द्वारा प्रस्तावित धारा के अनुसार कुछ विशेष शक्तों के अनुसार हाई कोर्ट से अपील केवल सर्वोच्च न्यायालय में जा सकेगी। कलकत्ता, बम्बई और मदरास के हाई कोर्ट का इस प्रकार मौलिक और अपील सम्बन्धी न्यायाधिकार प्रदान किया गया है। परन्तु आय के सम्बन्ध में भी हाई कोर्ट का निर्णय किसी अन्य के आधीन नहीं होगा, जैसा कि पूर्व समय में हुआ करता था।

प्रत्येक हाई कोर्ट को आदेश प्रदान करने, बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, निषेध-आदि के आज्ञा पत्र प्रदान करने का अधिकार होगा। यह आज्ञा-पत्र मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए अपने क्षेत्र की किसी सरकार को प्रदान किए जा सकते हैं।

सैनिक शक्ति द्वारा स्थापित किसी न्यायालय के अतिरिक्त अपने अपने क्षेत्र के समस्त न्यायालयों पर हाई कोर्ट को निरीक्षण का अधिकार होगा। इस कार्य के सम्पादन में हाई कोर्ट (१) अन्य न्यायालयों के सुकदमे माँग सकती है, (२) इन न्यायालयों की कार्यप्रणाली के हेतु नियम प्रतिपादित कर सकती है, (३) इन न्यायालयों के पदाधिकारियों द्वारा पुस्तकें, हिसाब, आदि रखने के नियम प्रतिपादित कर सकती है, और (४) राजप्रमुख अथवा राज्यपाल की पूर्व स्वीकृति के साथ न्यायालय के पदाधि-

कारियों तथा वहाँ पैरवी करने वाले एडवोकेट, एटोरनी और प्लीडरों का शुल्क भी निश्चित कर सकती है।

इसके अतिरिक्त यदि किसी निम्न न्यायालय में यदि कोई ऐसा मुकदमा चल रहा हो, जिसमें कानून का कोई ऐसा महत्वपूर्ण प्रश्न फँसा हो जिसके कारण विधान की व्याख्या की आवश्यकता आ पड़े, तो इस प्रकार के मुकदमे को हाई कोर्ट अपने यहाँ ले लेगी। इसके पश्चात् हाई कोर्ट स्वयं उस मुकदमे का निर्णय कर उस मुकदमे को समाप्त कर सकती है, अथवा कानून के प्रश्न को सुलझा कर उसे उसी न्यायालय को प्रदान कर सकती है।

जिस राज्य अथवा क्षेत्र में हाई कोर्ट का मुख्य पद स्थित हो, उसके अतिरिक्त संसद हाई कोर्ट के अधिकार क्षेत्र को अपने कानून द्वारा व्यापक एवं बहिष्कृत कर सकती है।

(२) अन्य आधीन न्यायालय

ज़िला न्यायाधीश की नियुक्ति और योग्यताएँ

प्रथम नामावली के भाग 'अ' और 'ब' में उद्धृत राज्यों में ज़िला न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा उनकी उन्नति राज्यपाल अथवा राजप्रमुख उस विशेष राज्य की हाई कोर्ट से परामर्श लेकर करेगा। ज़िला न्यायाधीश के पद को प्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि कोई व्यक्ति राज्य अथवा संघ के किसी पद को प्रहण न किए हुए हो, अथवा सात वर्ष के अनुभव का एडवोकेट अथवा प्लीडर रह चुका हो, अथवा हाई कोर्ट ने जिसकी नियुक्ति के लिए सिफ़ारिश की हो। इस सम्बन्ध में यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि इस 'ज़िला न्यायाधीश' शब्दावली में निम्नलिखित भी सम्मिलित हैं; एक दीवानी का न्यायाधीश, सहायक ज़िला न्यायाधीश, उप ज़िला न्यायाधीश, सहकारी ज़िला न्यायाधीश, स्मॉल कॉज़ न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश, प्रधान प्रादेशिक मजिस्ट्रेट, सहायक प्रधान प्रादेशिक मजिस्ट्रेट, सेशन न्यायाधीश, सहायक सेशन न्यायाधीश और सहकारी सेशन न्यायाधीश।

'न्याय व्यवस्था सम्बन्धी पद' इस शब्दावली का यद्यपि विधान के अन्तर्गत यही अर्थ लिया गया है कि इसमें वे व्यक्ति सम्मिलित हैं जो ज़िला न्यायाधीश तथा उससे निम्न पदों के लिए प्रार्थी थे, फिर भी ज़िला न्यायाधीशों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों की भरती के सम्बन्ध में विधान के अन्तर्गत कुछ विभिन्न धाराएँ प्रस्तुत की गई हैं। इस प्रकार की समस्त नियुक्तियाँ राज्यपाल अथवा राजप्रमुख स्वयं द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार, राज्य के पब्लिक सर्विस कमिशन और हाई कोर्ट से परामर्श लेकर करेगा।

ज़िला न्यायालय और अन्य न्यायालय के निरीक्षण तथा उन व्यक्तियों की उन्नति और छुट्टी के सम्बन्ध में जो किसी राज्य की न्याय व्यवस्था में ज़िला न्यायाधीश ने निम्न पद ग्रहण किए हुए हैं, का अधिकार हाई कोर्ट को होगा ।

राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को विधान द्वारा यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह जनता को यह सूचित करे कि आधीन न्यायालयों और न्याय व्यवस्था सम्बन्धी पद तथा उसके अन्तर्गत निर्मित किए गए समस्त नियम, स्वयं द्वारा निश्चित दिनांक से मजिस्ट्रेट के निर्देशित वर्ग के प्रति लागू हो जाएँगे, इनमें कुछ संशोधन भी होंगे जिनका निर्देशन उस सूचना में ही कर दिया गया है ।

बारहवाँ अध्याय

शक्ति वितरण

“इस आधार पर बड़ा गम्भीर दोषारोपण किया गया है कि केन्द्रीकरण की मात्रा अत्यन्त अधिक हो गई है और राज्यों को म्युनिसिपैलिटियों के समान कर दिया गया है।”^१

—डाक्टर अम्बेदेकर

प्रत्येक संघ राज्य में केन्द्र और संघीय इकाइयों में स्पष्ट शक्ति वितरण किया जाता है, क्योंकि, जैसा कि डाइसी ने लिखा है, “संघ का तात्पर्य ही राज्य की शक्ति को उन अनेक आधीन संस्थाओं में वितरित करना है जिनका मूल और जिनका नियंत्रणकर्ता विधान है।” अन्य स्थानों के समान भारतवर्ष में भी केन्द्र और इकाइयों के व्यवस्थापक कार्यों को विधान में विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत स्थान प्रदान किया गया है।

नवीन विधान के अन्तर्गत शक्ति वितरण की जो प्रणाली अपनाई गई है वह अपने सार रूप में सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत प्रदान की गई प्रणाली के समान है। शक्ति वितरण का सिद्धान्त भी वही रखा गया है, अर्थात् तालिकाओं द्वारा अधिकारों का व्यवस्थित वितरण। अब इन तीन तालिकाओं के नाम इस प्रकार रखे गए हैं—‘संघीय तालिका’, ‘राजकीय तालिका’ और ‘एकीभूत तालिका’। इन तालिकाओं में शक्ति वितरण का सिद्धान्त वही है जो सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत था। अवशेष अधिकार केन्द्रीय सरकार को प्रदान किए गए हैं।

केन्द्रीय सर्वोच्च सत्ता

यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर दिया गया है कि राज्य अथवा संघ की व्यवस्थापिका सभाएँ एक दूसरे के अधिकारों का अपहरण नहीं कर सकेंगी। एकीभूत तालिका में उल्लिखित विषयों के सम्बन्ध में केन्द्र को निश्चित सर्वोच्च सत्ता प्रदान

1. “A serious complaint is made on the ground that there is too much of centralisation and that the States have been reduced to municipalities.”

—Dr. Ambedkar.

की गई है। इसके अतिरिक्त विधान में यह प्रस्तावित किया गया है कि राजकीय तालिका में दिए गए किसी विशेष विषय का स्वरूप अथवा महत्त्व यदि राष्ट्रीय होगा तो उस विषय के सम्बन्ध में संसद को कानून निर्माण का अधिकार होगा। यदि एक अथवा एक से अधिक राज्य मिल कर स्वेच्छापूर्वक संघ से यह प्रार्थना करें कि उनके कुछ विषयों के सम्बन्ध में केन्द्र ही कानून निर्माण करे, तो केन्द्र इस प्रकार का कानून निर्माण कर सकता है। इसके अतिरिक्त विधान में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि यदि राज्य परिषद् उपस्थित सदस्यों के ३ बहुमत से यह प्रस्ताव पास करदे कि राष्ट्रीय हित के लिए यह आवश्यक है कि राजकीय तालिका के कुछ विशेष विषयों के सम्बन्ध में संसद कानून बनाए, तो संसद उस समय तक इन विषयों के सम्बन्ध में कानून निर्माण करती रहेगी जब तक कि वह प्रस्ताव लागू रहेगा। इस प्रकार के प्रस्ताव की अवधि एक वर्ष होगी, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर एक बार में एक वर्ष की गणना से प्रस्ताव पास करके इसकी अवधि में और भी वृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार के प्रस्ताव समाप्त होने के दिनांक से ६ मास पश्चात् इस सम्बन्ध में बनाए गए संसद के कानून भी समाप्त हो जाएंगे। परन्तु यहाँ इतना ध्यान में रखना चाहिए कि राजकीय तालिका के विषयों के सम्बन्ध में संसद के कानून निर्माण के अधिकार के होते हुए भी राज्यों को भी उन विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार होगा। यदि राजकीय और केन्द्रीय कानून में विरोध होता है तो राजकीय कानून उस सीमा तक अवैध घोषित किया जाएगा जिस सीमा तक वह केन्द्रीय कानून का विरोध कर रहा होगा। राजकीय तालिका के किसी विषय के सम्बन्ध में संसद कानून बना सकती है यदि दो अथवा दो से अधिक राज्य इसे आवश्यक समझें और इस सम्बन्ध में उन समस्त राज्यों की व्यवस्थापिका सभाओं के समस्त भवन एक प्रस्ताव पास कर दें। इस प्रकार संसद द्वारा पास किया, प्रत्येक एक उन राज्यों में लागू होगा। कोई अन्य राज्य भी इस प्रकार के कानून को अपने यहाँ लागू कर सकता है यदि उसकी व्यवस्थापिका सभा के समस्त भवन इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास कर दें। इस प्रकार निर्मित एक को खण्डित करने अथवा संशोधित करने का अधिकार केवल संसद को ही होगा। किसी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि, समझौता, आदि के सम्बन्ध में संसद भारतवर्ष अथवा उसके किसी भाग के लिए कानून बना सकती है। संकट कालीन अवस्था अथवा असाधारण परिस्थितियों में संसद को यह अधिकार होगा कि वह राजकीय तालिका के एक अथवा समस्त विषयों के सम्बन्ध में कानून-निर्माण करे। परन्तु संकट-कालीन अवस्था की घोषणा की समाप्ति के दिनांक से ६ मास के पश्चात् इस प्रकार निर्मित किए गए कानून समाप्त हो जाएंगे। इस सम्बन्ध में भी यह न समझ लेना चाहिए कि राज्यों को कानून निर्माण का अधिकार नहीं, परन्तु दोनों कानूनों में विरोध के अवसर पर केन्द्रीय कानून ही स्वीकृत माना जाएगा। यह भी विस्मरण नहीं करना चाहिए कि एकीभूत तालिका में उद्धृत किसी विषय के सम्बन्ध में बनाया गया किसी

राज्य का कानून यदि राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख लिया जाए और उसे यह स्वीकृति प्राप्त हो जाए, तो वह कानून केन्द्रीय कानून के विरोध में होते हुए भी स्वीकृत एवं वैध माना जाएगा। केन्द्र द्वारा शासित समस्त क्षेत्रों के सम्बन्ध में कानूनों का निर्माण संसद करेगी।

उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि विधान की आधीनता में होते हुए भी संघ और उसकी इकाइयाँ (प्रथम नामावली के 'अ' और 'ब' भाग में प्रतिपादित) अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र और सर्वोच्च सत्ताधारी होंगे। कोई भी दूसरे के अधिकारों का अपहरण नहीं कर सकेगा। यदि अधिकार क्षेत्र के सम्बन्ध में कोई झगड़ा उठ भी खड़ा होता है तो इस प्रकार के झगड़े के निर्णय का पूर्ण अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को होगा, और यह निर्णय अन्तिम होगा तथा दोनों दलों को स्वीकार करना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में बम्बई के भूतपूर्व मुख्य मंत्री श्री बी. जी. खेर का कथन उल्लेखनीय है कि "प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों के अनुसार राजनैतिक शक्ति का निष्केन्द्रीकरण कर दिया गया है। केन्द्र और इकाइयों के कार्य क्षेत्र की सीमा को स्पष्ट रूप से पृथक् करने के हेतु शक्ति वितरण किया गया है। इस सम्बन्ध में उठे हुए प्रत्येक झगड़े का निर्णय सर्वोच्च न्यायालय करेगा।"

व्यवस्थापक अधिकारों का वितरण

संघीय तालिका

नवीन विधान के अन्तर्गत इस तालिका में ६७ विषय हैं, जबकि सन् १९३५ के एकट के अन्तर्गत इस तालिका में केवल ५१ विषय थे। इनमें मुख्य हैं : रक्षा, अस्त्र-शस्त्र, बारूद गोला, विदेशी कार्य और अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य, यातायात, परमाणु शक्ति, स्वदेश त्याग तथा देशान्तर वास, टकसाल और सिक्के, डाक और तार आदि, संघ की सम्पत्ति और उसकी आय, विदेशी ऋण, भारतवर्ष का रिजर्व बैंक, डाकखाना, सेविंग्स बैंक, संघ द्वारा नियत शाखाओं द्वारा नमक का बनाया जाना तथा उसका वितरण तथा अन्य शाखाओं द्वारा इसका निरीक्षण, अफीम, राष्ट्रीय महत्व के ऐतिहासिक स्मारक तथा कलात्मक भवन, यूनियन पब्लिक सर्विस तथा अन्य अखिल भारतीय सर्विस, आदि। इसके अतिरिक्त वे भी विषय हैं जिनका उल्लेख राजकीय अथवा एकी-भूत तालिका दोनों में से किसी में नहीं है।

राजकीय तालिका

इस तालिका में वे विषय उद्धृत हैं जिनके सम्बन्ध में राज्य की व्यवस्थापिका सभाएँ कानून बना सकेंगी। इनमें मुख्य हैं : जन सुरक्षा, पुलिस, न्याय प्रबन्ध, बन्दीगृह, स्थानीय सरकार, जन-स्वास्थ्य और स्वच्छता, मादक द्रव्य, वे शैक्षिक संस्थाएँ जिन्हें राज्य द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान की जाती हो तथा जिन पर राज्य का ही

नियन्त्रण हो, संघीय तालिका में उद्धृत यातायात के अतिरिक्त शेष यातायात, कृषि, राज्य की सीमा में व्यापार और व्यवसाय, बेकार और अपंगुओं को सुविधा, राज्य की पब्लिक सर्विस और राज्य पब्लिक सर्विस कमीशन, राज्य का जनता का ऋण, माल-गुजारी, कृषि की आय पर कर, सड़क अथवा नदी आदि पर से जाने वाले सामान और व्यक्तियों पर कर, चुंगी, वृत्तियों, व्यवसायों, व्यापार और नौकरियों पर कर, आदि।

एकीभूत तालिका

इस तालिका में ४७ विषय हैं जिनके सम्बन्ध में संसद और राज्यों की सापेक्ष सभाओं—दोनों को ही कानून बनाने का अधिकार है। दोनों के कानूनों में विरोध होने पर संसद का कानून वैध घोषित किया जाएगा। इन विषयों में मुख्य हैं : फौजदारी कानून, फौजदारी कार्य-प्रणाली, प्रतिबन्धक अवरोध, विवाह और तलाक़, दिवालियापन और पागलपन, धरोहर और संरक्षक, दीवानी कार्यप्रणाली, सर्वोच्च न्यायालय के अतिरिक्त अन्य न्यायालयों का अनादर, औषधियाँ, अफीम के अतिरिक्त अन्य विष, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था, व्यापार संघ, हित, भ्रम, सुविधा, स्थानान्तरित हुए व्यक्तियों का पुनःस्थापन, स्थानान्तरित हुए व्यक्तियों की सम्पत्ति, आदि।

शासन सम्बन्धी अधिकारों का वितरण

जिस क्षेत्र के सम्बन्ध में संसद और राज्य की व्यवस्थापिका सभाएँ कानून बनाती हैं, उन क्षेत्रों के सम्बन्ध में क्रमशः केन्द्रीय कार्यकारिणी और राज्य की कार्यकारिणी शासन प्रबन्ध करेंगी। राज्य अपने किसी अधिकार का प्रयोग इस रूप में न कर सकेगा कि केन्द्र के अधिकारों को उनसे हानि पहुँचने की सम्भावना हो। केन्द्र के अधिकारों की अनुकूलता में ही राज्य अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकेगा। इस सम्बन्ध में केन्द्र राज्यों को आदेश भी प्रदान कर सकता है।

भारत सरकार अन्य विषयों पर भी राज्यों की सरकार को आदेश प्रदान कर सकता है। राष्ट्रीय और सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण यातायात के साधनों की सुरक्षा तथा स्थायित्व के सम्बन्ध में; प्रत्येक राज्य में पृथक् रूप से रेल की सुरक्षा के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार राज्यों की सरकारों को आदेश प्रदान कर सकेगी।

जिन विषयों पर संघीय सरकार का अधिकार है उन विषयों के शासन प्रबन्ध को राष्ट्रपति राज्य अथवा उसके किसी पदाधिकारी को सौंप सकता है। यह कार्य राष्ट्रपति उस राज्य से परामर्श लेकर ही करेगा। संसद भी कानून द्वारा राज्य अथवा उसके पदाधिकारियों को कुछ अधिकार और कर्तव्य प्रदान कर सकती है। इस प्रकार के प्रबन्ध में जो धन व्यय होगा, वह धन केन्द्रीय सरकार उस राज्य की सरकार को देगी।

पूर्वकाल के देशी राज्य जो अब भाग 'ब' में आगए हैं, यदि चाहें तो सशस्त्र सेनाएँ रख सकते हैं, परन्तु यह वे राष्ट्रपति के आदेशों के अनुसार ही कर सकेंगे।

न्याय के उत्तम प्रबन्ध के हेतु संसद एक कानून द्वारा सहायक न्यायालय भी खुलवा सकती है।

एक शक्तिशाली केन्द्र की उत्पत्ति की न्याय्यता

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विधान के अन्तर्गत केन्द्र को अत्यन्त अधिक अधिकार प्रदान किए गये हैं। व्यवस्थापन सम्बन्धी विषयों में संसद को सर्वोच्च सत्ता, केन्द्र को प्रदान किए गए अवशेष अधिकार तथा संकट कालीन अवस्था सम्बन्धी विधान की धाराओं ने संघीय इकाइयों के अधिकार क्षेत्र को अत्यन्त सीमित बना दिया है। अति केन्द्रीकरण ने संघ की भावना में प्रतिबन्ध उपस्थित कर दिया है, और इसी के कारण इसकी कठोर आलोचना की गई है।

केन्द्र को इतने अधिक व्यापक अधिकार देश की विशालता और विभिन्नता के दृढ़ और विवश करने वाले कारणों के आधार पर प्रदान किए गए थे। विधान निर्माताओं के मस्तिष्क में सदा ही दो उच्चतम आदर्श स्थित रहे — राष्ट्रीय हित और देश की एकता। हमारे देश में प्रचलित विभाजन और पृथक् करने की प्रवृत्ति के कारण हमने जो महान दुःख सहे, उन्हें हम कभी नहीं भूल सकते। विभिन्न भाषा, जाति, गोत्र और धर्मों का देश में होने के कारण भारतवर्ष के लिए यह आवश्यक था कि उसके विभिन्न अंगों को सम्मिलित रखने के लिए एक केन्द्रीय शक्ति की स्थापना की जाए। इसके अतिरिक्त देश के विभाजन ने जो उथल पुथल कर दी उसके कारण एक शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना और भी आवश्यक हो गई। सम्पूर्ण राष्ट्रीय आधार पर भारतवर्ष के आर्थिक विकास और भारतवर्ष के समस्त नागरिकों के जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने की समस्या ने एक दृढ़ और शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना का समर्थन किया। यह स्वाभाविक है कि आर्थिक एकता के पश्चात् राजनैतिक एकता का आगमन होता है। इसलिए बंगाल के सन् १९४३ की महामारी और अकाल तथा अन्य अनेक देश-व्यापी दुर्घटनाओं को दृष्टिगत रखते हुए विधान निर्माताओं ने केन्द्र को ही शक्तिशाली बनाया। संकटकालीन अवस्था के अतिरिक्त तथा जब तक राष्ट्र के हितों पर आघात न हो, राज्य अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होंगे। सामान्य अथवा साधारण परिस्थितियों में विधान का स्वरूप संघात्मक होगा परन्तु असाधारण परिस्थिति में यह विधान एकात्मक के रूप में परिवर्तित हो जाएगा। इस प्रकार जैसा कि डाक्टर अम्बेदकर ने कहा है यह विधान एकात्मक और संघात्मक दोनों है। 'संघ' के स्थान पर 'यूनियन' शब्द का प्रयोग निश्चित तथा सचेत रूप से किया गया है, क्योंकि इस शब्द से एकता और संगठन का अर्थ भल्लकता है। राज्य इस संघ से पृथक् नहीं हो सकते क्योंकि इसे

सब राज्यों को संगठित करने के अधिकार—व्यवस्थापक और शासन सम्बन्धी—त हैं। इसी दृष्टिकोण की पुष्टि में डाक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने लिखा है कि, “इन कालीन अवस्थाओं का सामना करने के हेतु केन्द्र के लिए कुछ अधिकार सुरक्षित ले चाहिए जो नीति के निर्धारण और लागू करने में पूर्ण और प्रतिबन्ध रहित हों। त में जिस विधान का जन्म हुआ है वह इस सबका आश्वासन देता है और श्रृंखला तथा उत्पात अथवा उपद्रव के भय से रक्षा करता है।”^१ केन्द्र के यह आवश्यक अधिकार विधान की सामान्य विशेषता नहीं है। उनका प्रयोग केवल उसी रण किया जाएगा जब किसी संकट कालीन अवस्था में उनकी आवश्यकता होगी। की आवश्यकता भी है क्योंकि देश के समान हित और समान लक्ष्य की प्राप्ति के केवल केन्द्र ही प्रयत्न कर सकता है, विभिन्न राज्य नहीं। इस सम्बन्ध में डाक्टर खेदकर का कथन उल्लेखनीय है कि, “जो संकट कालीन अवस्था के लिए भी केन्द्र इन महत्वपूर्ण अधिकारों की न्याय्यता को स्वीकार नहीं करते, उन्हें कदाचित् उस नस्या का स्पष्ट ज्ञान नहीं है, जो इस विषय के मूल में स्थित है।” अन्त में यह ठोकार करना पड़ता है, जैसा कि डाक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने लिखा है कि, “वैधाक धाराएँ भले ही कुछ भो हों, व्यावहारिक रूप में उनकी सफलता राजकीय भावनाओं निदयतापूर्वक कुचलने में नहीं बल्कि एकता की आवश्यकताओं और राजकीय राज्य की आवश्यकताओं के मध्य में एक संतुलन के विकास में ही निहित है।”^२

1 “There should be power reserved to the centre, full and untrammelled both in the formulation of the policy and its execution to deal effectively with such emergencies. The Constitution which ultimately emerged guarantees all this and guards against the dangers of disunity and turmoil.”

—Dr. Shyama Prasad Mookerjee.

२ “Whatever may be the constitutional provisions, success in their practical working would, however, lie not in riding rough shod over provincial feelings, but in evolving a balance between the exigencies of unity and the requirements of provincial autonomy.”

—Dr. Shyama Prasad Mookerjee.

तेरहवाँ अध्याय

पब्लिक सर्विस

“अयोग्यता पर केवल पार्लियामेन्ट और जन सम्मति की प्रतिक्रिया द्वारा ही प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता, बल्कि सिविल सर्विस की योग्यता द्वारा भी लगाया जाता है।”¹ —जेनिंग्स

किसी भी देश में वहाँ की सिविल सर्विस शासन प्रबन्ध का मूलाधार होती है। यह पद स्थायी एवं उच्च वेतन के होने के कारण देश के अन्युत्तम व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इस स्थायी संघ में जिसे प्रायः नौकर शाही के नाम से पुकारा जाता है, बड़े अनुभवी व्यक्ति होते हैं जो किसी एक विशेष ज्ञान में पारंगत होते हैं, और जो शासन प्रबन्ध का संचालन बड़ी योग्यता से करते हैं। यह अधिकारी अपने पद से सम्बन्धित बाह्य और अन्तर के प्रत्येक संकेत से परिचित होते हैं, और अपने ज्ञान द्वारा मन्त्रियों को यह आवश्यकता से अधिक सहायता पहुँचाते हैं, क्योंकि मन्त्रीगण राजनीतिज्ञ होने के नाते शासन सम्बन्धी समस्याओं से उतने अधिक परिचित नहीं होते। वास्तव में नौकरशाही शासन प्रबन्ध की एक वास्तविक संस्था है जबकि मन्त्रीगण अधिकतर केवल समर्थन करना जानते हैं, और नौकरशाही द्वारा किए गए निर्णय पर हस्ताक्षर मात्र कर देते हैं। जनता की दृष्टि में तो मन्त्रों को “ज्ञान के भंडार के रूप में प्रदर्शित किया जाता है।”

नवीन विधान के अन्तर्गत भी इस प्रकार की पब्लिक सर्विस और पब्लिक सर्विस कमिशन (लोक सेवा आयोग) की व्यवस्था की गई है। राज्यों की स्वयं की पब्लिक सर्विस होते हुए भी, विधान के अन्तर्गत कुछ अखिल भारतीय सर्विस की व्यवस्था की गई है, जिसके सदस्यों की नियुक्ति संघ के शासन प्रबन्ध सम्बन्धी मुख्य पदों पर की जाएगी। इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस (Indian Administrative Service) और इण्डियन पुलिस सर्विस (Indian Police Service)

1. “The check upon the incompetence arises not merely from the reaction of parliamentary and public opinion, but also from the competence of the Civil Service.” —Jennings.

इसी प्रकार की सर्विस हैं। राज्य परिषद् को यह अधिकार प्राप्त है कि यदि वह राष्ट्रीय हित के लिए यह आवश्यक समझे तो उपस्थित सदस्यों के बहुमत द्वारा एक प्रस्ताव पास करके इस प्रकार की अन्य सर्विस की व्यवस्था कर सकती है। इस विधान के लागू होने के पूर्व पब्लिक सर्विस अथवा संघ अथवा किसी राज्य के अन्तर्गत स्थापित किसी पद के सम्बन्ध में जो कानून लागू थे, वे अब भी लागू रहेंगे जब तक कि इस सम्बन्ध में कोई नवीन व्यवस्था स्थापित न कर दी जाए। विभिन्न राज्यों की पब्लिक सर्विस में लिए जाने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित नियम और प्रणाली के निश्चित करने का अधिकार विधान द्वारा उनकी व्यवस्थापिका सभाओं को प्रदान किया गया है। इस प्रकार अखिल भारतीय सर्विस का संचालन संसद करेगी, तथा विभिन्न राज्यों की व्यवस्थापिका सभाएँ अपने-अपने राज्य की पब्लिक सर्विस का संचालन करेंगी। जब तक कि इस व्यवस्था से सम्बन्धित कानूनों का निर्माण न हो जाए, उस समय तक के लिए विभिन्न सरकारों के अध्यक्ष अर्थात्, भारतीय सर्विस के सम्बन्ध में राष्ट्रपति और विभिन्न राज्यों की पब्लिक सर्विस के सम्बन्ध में राज्यपाल अथवा राजप्रमुख, अथवा उनके द्वारा नियुक्त किए गए व्यक्ति इन सर्विस की भरती के सम्बन्ध में नियमों का निर्माण कर सकेंगे। इस प्रकार नियुक्त हुए भारतवर्ष के समस्त पदाधिकारी, चाहे वह संघ के रक्षा सम्बन्धी विभाग में हों चाहे शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित विभाग में, राष्ट्रपति के प्रति विश्वासी रह कर ही अपने पद पर आसीन रह सकेंगे। इसी प्रकार विभिन्न राज्यों के पदाधिकारी भी राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के प्रति विश्वासी रह कर ही अपने पद पर आसीन रह सकेंगे। नियमित सर्विस (contract services) इस धारा के अन्तर्गत नहीं आती। इस प्रकार के पदों पर कार्य कर रहे व्यक्तियों को यदि निश्चित अवधि के पूर्व हटाया जाय, और यदि उनसे सम्बन्धित सरकार के अध्यक्ष यह आवश्यक समझें तो उन्हें इसका प्रतिफल प्रदान किया जा सकता है। निश्चित अवधि से पूर्व उन्हें हटाए जाने का कारण उस पद को समाप्त करना अथवा दुराचरण के अतिरिक्त और कुछ भी हो सकता है।

संघ अथवा विभिन्न राज्यों में नियुक्त किए गए शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित पदाधिकारियों को उनके पदस्थ करने, हटाने अथवा उन्हें निम्न स्थान प्रदान करने के सम्बन्ध में दो सुरक्षाएँ प्रदान की गई हैं :

(१) इस प्रकार के किसी पदाधिकारी को किसी ऐसे अधिकारी द्वारा पदस्थ अथवा हटाया न जा सकेगा जो उसके नियुक्त करने वाले अधिकारी के आधीन हो; और

(२) इस प्रकार के किसी पदाधिकारी को उस समय तक पदस्थ अथवा हटाया न जा सकेगा तथा उसे उस समय तक निम्न स्थान प्रदान न किया जा सकेगा

जब तक कि उसे इस बात का यथेष्ट अवसर प्रदान न कर दिया जाए कि वह स्वयं के विरुद्ध लगाए गए अभियोग के विरोध में कुछ बचाव उपस्थित कर सके।

परन्तु निम्नलिखित विषयों के सम्बन्ध में यह सुरक्षाएँ लागू नहीं होंगी :—

(अ) जब किसी पदाधिकारी के पदस्थ करने अथवा हटाने का कारण उस पदाधिकारी के विरुद्ध फौजदारी का कोई अभियोग हो।

(ब) जब इस प्रकार के पदाधिकारी को हटाने, पदस्थ करने अथवा निम्न स्थान प्रदान करने के लिए अधिकृत अधिकारी को कुछ कारणों द्वारा जिन्हें वह लिखित रूप में रखेगा, यह प्रतीत हो कि इस प्रकार के किसी पदाधिकारी को अपना पद अथवा बचाव प्रदर्शित करने का अवसर प्रदान करना व्यवहारिक रूप से न्याय संगत न होगा;

(स) जब भारतवर्ष के राष्ट्रपति अथवा किसी राज्य के राज्यपाल अथवा राज-प्रमुख को यह प्रतीत हो कि राष्ट्र अथवा किसी राज्य की सुरक्षा के हितार्थ यह उचित नहीं है कि उस पदाधिकारी को इस प्रकार का अवसर प्रदान किया जाय।

अवसर प्रदान न करने की न्यायसंगत व्यवहारिकता से सम्बन्धित किसी संदिग्ध अथवा अनिश्चित प्रश्न का निर्णय वही अधिकारी करेगा जिसे शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित किसी पदाधिकारी को हटाने, पदस्थ करने, अथवा उसे निम्न स्थान प्रदान करने का अधिकार होगा, और इस सम्बन्ध में उसका निर्णय अन्तिम होगा।

विधान के अन्तर्गत प्रस्तावित एक विशेष धारा के अनुसार इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस, इण्डियन पुलिस सर्विस, इण्डियन मेडीकल सर्विस, आदि उन सर्विस के सदस्यों को जो पूर्व समय में भारत सचिव की सर्विस के अंतर्गत आजाती हैं, कुछ वैधानिक सुविधाएँ प्राप्त होती रहेंगी। जहाँ तक यह परिवर्तित परिस्थितियाँ इस विधान के लागू होने से पूर्व की सर्विस की प्राचीन प्रणाली एवं शक्तों के प्रयोग में रहने के अनुकूल है, उस समय तक वही नियम लागू रहेंगे। इनमें पदाधिकारियों की छुट्टियाँ, वृत्ति, वेतन, प्रतिफल, आदि से सम्बन्धित नियम भी सम्मिलित हैं।

पब्लिक सर्विस कमीशन^१

विधान द्वारा संघ और प्रत्येक राज्य के लिए पृथक पब्लिक सर्विस कमीशनों की स्थापना की गई है। यदि दो अथवा दो से अधिक राज्य अपने लिए एक ही पब्लिक सर्विस कमीशन की स्थापना करना चाहें, और यदि इस प्रकार इच्छुक प्रत्येक राज्य की व्यापिका सभा इस सम्बन्ध में प्रस्ताव पास कर दे तो संसद एक कानून द्वारा उन राज्यों के लिए एक संयुक्त पब्लिक सर्विस कमीशन की व्यवस्था कर सकती है। इस प्रकार के कमीशन को संयुक्त कमीशन के नाम से ही पुकारा जाता है। यदि किसी

^१ लोक सेवा आयोग

राज्य के राज्यपाल अथवा राजप्रमुख संघीय पब्लिक सर्विस से इस प्रकार की प्रार्थना करें तो संघीय पब्लिक सर्विस राष्ट्रपति की स्वीकृति के साथ, उस राज्य की कुछ अथवा समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कार्य कर सकती है।

संघीय पब्लिक सर्विस कमीशन अथवा संयुक्त कमीशन के सभापति अथवा प्रधान को नियुक्त राष्ट्रपति करेंगे, और विभिन्न राज्यों के कमीशनों के अध्यक्ष की नियुक्त उनके राज्यपाल अथवा राजप्रमुख करेंगे। इसी प्रकार संघीय पब्लिक सर्विस कमीशन और संयुक्त कमीशन के सदस्यों की संख्या राष्ट्रपति निश्चित करेंगे, तथा विभिन्न राज्यों के कमीशनों के सदस्यों की संख्या राज्यपाल अथवा राजप्रमुख करेंगे। प्रत्येक पब्लिक सर्विस कमीशन के कम से कम आधे सदस्य इस प्रकार के होंगे जो अपनी नियुक्ति के समय तक भारतवर्ष अथवा किसी एक राज्य की सरकार के अन्तर्गत किसी महत्वपूर्ण पद पर रह चुके होंगे।

पब्लिक सर्विस कमीशन का एक सदस्य ६ वर्ष की अवधि तक अपने पद पर रह सकेगा अथवा संघीय कमीशन के सम्बन्ध में पैंसठ वर्ष की आयु तक और संयुक्त कमीशन अथवा किसी राज्य के कमीशन के सम्बन्ध में साठ वर्ष की आयु तक—जो भी इन दोनों में से पहले घटित हो जाए—अपने पद पर आसीन रह सकेगा। इस प्रकार के सदस्य द्वितीय बार नियुक्त नहीं किए जा सकते। इस प्रकार के कमीशनों का कोई सदस्य अपने पद से त्याग पत्र दे सकता है, इसके अतिरिक्त उसे दुराचरण के आधार पर राष्ट्रपति पदस्थ भी कर सकता है यदि सर्वोच्च न्यायालय इस बात की घोषणा करे। इस प्रकार के किसी सदस्य को कुछ काल के लिए भी पदस्थ किया जा सकता है। यदि वह सदस्य संघीय कमीशन अथवा संयुक्त कमीशन का है तब तो उसे राष्ट्रपति पदस्थ करेंगे, यदि वह सदस्य किसी राज्य के कमीशन का है तो उसे उस राज्य के राज्यपाल अथवा राजप्रमुख पदस्थ करेंगे। इस प्रकार के कार्य का सम्पादन उसी समय हो सकेगा जब सर्वोच्च न्यायालय से इस सम्बन्ध में रिपोर्ट प्राप्त होने पर राष्ट्रपति इस प्रकार की घोषणा करदे। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति पब्लिक सर्विस कमीशन के किसी सदस्य को निम्नलिखित आधारों पर हटा सकते हैं :

(अ) यदि कोई सदस्य दिवालिया हो जाए;

(ब) यदि कोई सदस्य अपनी सदस्यता की अवधि में अपने इन कर्तव्यों के अतिरिक्त कोई ऐसा पद स्वीकार करले जिसमें उसे वेतन मिले;

(स) यदि राष्ट्रपति की सम्मति में कोई सदस्य अपनी मानसिक अथवा शारीरिक दुर्बलता के कारण पद ग्रहण करने योग्य न रहा हो। यदि कोई सदस्य स्वयं सरकारी ठेके को हाथ में लेता है, तो उस पर दुराचार का दोषारोपण किया जाएगा।

अवधि समाप्त होने पर संघीय कमीशन का अध्यक्ष भारत सरकार अथवा किसी राज्य की सरकार के अन्तर्गत कोई पद प्राप्त न कर सकेगा, किसी राज्य के

कमीशन का अध्यक्ष भी यद्यपि कोई सरकारी पद ग्रहण नहीं कर सकेगा परन्तु उसकी नियुक्ति संघीय कमीशन के एक सदस्य अथवा अध्यक्ष के स्थान पर की जा सकती है। अध्यक्ष के अतिरिक्त संघीय कमीशन का कोई सदस्य केवल संघीय कमीशन अथवा किसी राज्य के कमीशन का अध्यक्ष ही नियुक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार किसी राज्य के कमीशन के अध्यक्ष के अतिरिक्त किसी अन्य सदस्य की नियुक्ति भी संघीय कमीशन के सदस्य अथवा अध्यक्ष के स्थान पर अथवा किसी राज्य के कमीशन के अध्यक्ष के स्थान पर ही हो सकती है। इन सब पदों के अतिरिक्त इन पदाधिकारियों की नियुक्ति भारत सरकार अथवा किसी राज्य की सरकार के अन्तर्गत किसी अन्य पद पर नहीं हो सकेगी।

पब्लिक सर्विस कमीशन के कार्य

पब्लिक सर्विस कमीशन का एक मुख्य कार्य है मुख्य पदों से सम्बन्धित परीक्षा का प्रबन्ध तथा संचालन करना। पब्लिक सर्विस कमीशन का कार्य केवल परामर्श प्रदान करने का है और न कि शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित। दो अथवा दो से अधिक राज्यों के प्रार्थना करने पर संघीय पब्लिक सर्विस कमीशन ऐसे पदों की संयुक्त भरती से सम्बन्धित योजना के निर्माण और उमे कार्य रूप में परिणत करने में सहायता प्रदान करेगा जिन पदों के लिए विशेष योग्यता प्राप्त किए हुए व्यक्तियों की आवश्यकता होती है।

परिस्थिति के अनुसार संघीय अथवा किसी राज्य के किसी पब्लिक सर्विस कमीशन से निम्नलिखित विषयों के सम्बन्ध में विचार विमर्श किया जा सकता है

- (१) शासन प्रबन्ध सम्बन्धी सर्विस और पदों पर नियुक्ति करने का ढंग;
- (२) शासन प्रबन्ध सम्बन्धी पदाधिकारियों का नियुक्ति, उन्नति और स्थान परिवर्तन;

(३) शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित व्यक्तियों के अनुशासन सम्बन्धी विषय जिनमें इस प्रकार के विषयों से सम्बन्धित प्रार्थना पत्र तथा निवेदन पत्र भी सम्मिलित हों;

(४) सर्विस के किसी सदस्य द्वारा अथवा उससे सम्बन्धित माँगे गए कानूनी कार्यवाही के विरुद्ध रक्षा के अधिकार ; और

(५) अपना कर्तव्य निभाते हुए यदि किसी पदाधिकारी को कुछ शारीरिक अथवा कोई अन्य प्रकार की हानि हो तो उसके लिए वृत्ति के पारितोषिक का अधिकार।

अखिल भारतीय सर्विस तथा अन्य सर्विस तथा पदों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल अथवा राजप्रमुख उन विषयों का उल्लेख करते हुए नियम बना सकते हैं, जिनमें किसी सामान्य अथवा किसी विशेष विषय अथवा किन्हीं विशेष परिस्थितियों में पब्लिक सर्विस कमिशन से विचार विमर्ष करना आवश्यक नहीं होगा। इस प्रकार निर्मित नियम चौदह दिन तक संसद अथवा सम्बन्धित राज्य की व्यवस्थापिका सभा के सन्मुख उपस्थित रहेंगे और इन संस्थाओं को यह अधिकार है कि वह इन्हें खण्डित करदे अथवा इन्हें परिवर्तित करदे।

अपने-अपने विषयों के सम्बन्ध में संसद और राज्यों की व्यवस्थापिका सभाएँ पब्लिक सर्विस कमिशनों के लिए अन्य कार्य प्रस्तावित कर सकती हैं। पब्लिक सर्विस कमिशनों का व्यय भारतवर्ष तथा सम्बन्धित राज्यों के संचित धन में से प्रदान किया जाएगा। संघीय कमिशन, विभिन्न राज्यों के कमिशनों तथा संयुक्त कमिशन का यह कर्तव्य है कि सम्पादित कार्य से सम्बन्धित एक वार्षिक रिपोर्ट राष्ट्रपति अथवा राजप्रमुख अथवा राज्यपाल के सन्मुख उपस्थित करेंगे, जो इस प्रकार प्राप्त की गई रिपोर्ट को एक लेखपत्र के साथ सम्बन्धित व्यवस्थापिका सभाओं के सन्मुख उपस्थित करेंगे। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल अथवा राजप्रमुख उन कारणों और परिस्थितियों का भी उल्लेख करेंगे, जिनके अन्तर्गत कमिशन की सम्मति स्वीकार नहीं की गई थी।

चौदहवाँ अध्याय

विधान का संशोधन

“अचल विधान वह है जो केवल एक विशेष, अतिरिक्त एवं व्यवस्थित कार्य प्रणाली द्वारा ही, जो साधारण कानून-निर्माण की कार्य प्रणाली से भिन्न हो, परिवर्तित एवं संशोधित किया जा सके।”^१ —सर जॉन मेरियट

मेरियट के इस दृष्टिकोण से तो हमारा विधान अचल ही ठहरता है क्योंकि हमारे विधान में भी संशोधन करने के लिए व्यवस्थापन की सामान्य प्रणाली से भिन्न, एक विशेष, तथा व्यवस्थित प्रणाली प्रस्तावित की गई है। हमारा विधान अचल अवश्य है, परन्तु लचीलेपन का भार लिए हुए है। कुछ विषयों के सम्बन्ध में हमारे विधान निर्माताओं ने अचलता को इतनी दूर कर दिया है कि विधान एक दम लचीला प्रतीत होता है। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि कुछ वैधानिक विषय इस प्रकार के हैं जिन्हें संसद द्वारा उसी प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है, जिस प्रकार कि वह सामान्य कानूनों को पास करती अथवा उन्हें संशोधित करती है; उदाहरण स्वरूप एक राज्य की व्यवस्थापक परिषद् (Legislative Council) को जन्म प्रदान करना तथा उसे समाप्त करना। विधान के अनुसार इस प्रकार के परिवर्तन वैधानिक संशोधन नहीं कहलाते। चाहे यह परिवर्तन वैधानिक संशोधन कहलाएँ अथवा न कहलाएँ परन्तु यह इतना अवश्य सिद्ध करते हैं कि हमारा विधान अचल होते हुए भी कितना लचीला है।

संशोधन की विधि

हमारे विधान में प्रस्तावित संशोधन की प्रणाली हमारे विधान को दो भागों में विभाजित कर देती है—सामान्य और विशेष। यद्यपि इस प्रकार का विभाजन हमारे विधान में लिखित नहीं परन्तु फिर भी इस प्रकार का विभाजन लक्षित होता है। सामान्य वैधानिक विषय वे हैं कि यदि उनमें किसी प्रकार का संशोधन किया जाय तो

1. “A rigid constitution is one which can be altered and amended only by the employment of some special and extraordinary and prescribed machinery, distinct from the machinery of ordinary legislation.”

—Sir John Marriot.

यह आवश्यक नहीं कि राज्य की व्यवस्थापिका सभाएँ एक विशेष प्रणाली द्वारा उन्हें प्रमाणित करें। यद्यपि इन्हें संशोधित करने में हमें एक असामान्य प्रणाली का आश्रय लेना पड़ता है। इसके विपरीत विशेष विषय वे हैं जिनमें संशोधन करने के लिए इस असामान्य प्रणाली के साथ-साथ राज्य की व्यवस्थापिका सभाओं का एक विशेष प्रणाली द्वारा प्रमाणित करना आवश्यक है। इस प्रकार प्रमाणित होने के पश्चात् ही उनका संशोधन वैध स्वीकृत किया जा सकता है। यह संशोधन की प्रणाली के निम्नलिखित व्यापक एवं विस्तृत विवेचन से भली भाँति स्पष्ट हो जाएगा।

(अ) सामान्य विषय सम्बन्धी

इस प्रकार का संशोधन संसद में एक प्रस्ताव के उपस्थित करने से हो सकता है। यह प्रस्ताव संसद के प्रत्येक भवन में उपस्थित सदस्यों के ३ बहुमत द्वारा पास होना चाहिए। यह ३ बहुमत उन भवनों के सदस्यों की कुल संख्या का भी बहुमत होना चाहिए।

(ब) विशेष विषय सम्बन्धी

कुछ विषय इस प्रकार के हैं जिनमें कोई वैधानिक संशोधन केवल निम्नलिखित ढंग से ही हो सकता है :

प्रस्तावित संशोधन संसद के प्रत्येक भवन के ३ बहुमत से पास होना चाहिए, और उसके पश्चात् ये राज्य की व्यवस्थापिका सभाओं की कुल संख्या के अर्द्ध भाग द्वारा प्रमाणित होने चाहिए।

यह विषय निम्नलिखित हैं :—

राष्ट्रपति के निर्वाचन की विधि, संघ और राज्यों के शासन सम्बन्धी अधिकार क्षेत्रों की सीमा, संघ और राज्यों का व्यवस्थापक सम्बन्ध, संघीय और राज्य के न्यायालय, व्यवस्थापक अधिकारों की तालिकाएँ, संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व और विधान के अन्तर्गत प्रतिपादित वैधानिक संशोधन की प्रणाली।

आलोचनात्मक निरीक्षण

हमारे विधान में इन विशेष विषयों को स्थान प्रदान करने का तात्पर्य है विधान के संघीय स्वरूप को दृढ़ करना, क्योंकि यदि इन विषयों से सम्बन्धित संशोधन में राज्यों को कोई अधिकार प्रदान नहीं किया जाता तो कदाचित् यह सम्भव था कि राज्यों का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता। उदाहरणस्वरूप, यदि शक्ति वितरण में संशोधन करने के अधिकार को केवल संसद को ही सौंप दिया जाता, तो इस बात की यथेष्ट सम्भावना थी कि किसी भी क्षण संसद राज्यों के समस्त अधिकारों का अपहरण कर लेती।

इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखने योग्य है कि जिस प्रकार कनाडा और आस्ट्रेलिया के विधानों के अन्तर्गत इकाइयों को अपने विधानों को संशोधित करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया है, उस प्रकार से भारतीय विधान में अपनी इकाइयों को अपने विधान में संशोधन करने की आज्ञा प्रदान नहीं की गई है। हमारे संघ का ताना-बाना यथेष्ट रूप से गठित है, इसमें से कोई इकाई पृथक् नहीं हो सकती।

विधान में संशोधन करने के विषय की विधान सभा के कुछ सदस्यों ने बड़ी कटु आलोचना की थी। आलोचकों ने संशोधन की प्रणाली को कठिन, दुर्लभ एवं पक्षपातपूर्ण बतलाया। इस मत की पुष्टि में उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया कि यदि एक सीमित मताधिकार के आधार पर निर्वाचित विधान सभा विधान प्रस्तुत कर सकती है तो भविष्य में बनने वाली संसद को जिसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होगा, विधान में संशोधन करने का अधिकार क्यों न प्रदान किया जाए ? डाक्टर अम्बेदकर ने इस मत का विरोध इस आधार पर किया कि संसद में सदा एक न एक दल का प्रभुत्व रहता है और वह दल अपने स्वार्थ की पूर्ति में रहता है, परन्तु विधान सभा इस प्रकार के दोषों से सर्वथा रहित है। इस स्थान पर डाक्टर अम्बेदकर के शब्दों को उद्धृत करना अनुचित न होगा :

“यही इस बात को स्पष्ट कर देता है कि सीमित मताधिकार के आधार पर निर्वाचित विधान सभा साधारण बहुमत से विधान प्रस्तुत कर सकती है और उस पर क्यों विश्वास किया जा सकता है, और वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संसद पर इतना भी विश्वास क्यों नहीं किया जाता कि उसे उन्हीं साधनों द्वारा उसमें संशोधन करने का अधिकार प्रदान किया जा सके।”

पन्द्रहवाँ अध्याय

सन् १९५१ का विधान (प्रथम संशोधन) एक्ट

“भारतवर्ष में अनेक वस्तुओं को ईश्वर-रूप प्रदान करने और इस प्रकार अपने असंख्य देवी-देवताओं की संख्या में वृद्धि करने का हम लोगों को एक अजीब सा अभ्यास पड़ गया है, तथा सैद्धांतिक रूप में उनकी पूजा-अर्चना कर वास्तविक रूप में हम ऐसा कार्य करते हैं कि उनके जीवन का अन्त ही हो जाता है। इस हेतु यदि हम इस विधान की हत्या करने के ही इच्छुक हैं, तो पहले हमें इसका निर्माण करने दिया जाए—पवित्र और पावन निर्माण....., यदि कोई विधान जीवित रहना चाहता है तो वह ग्राह्य, लचीला एवं परिवर्तन योग्य होना चाहिए।”^१

—मिस्टर जवाहरलाल नेहरू.

इन शब्दों के साथ २६ मई सन् १९५१ को हमारे प्रधान मन्त्री ने हमारे विधान में किए जाने वाले प्रथम संशोधन के प्रस्ताव को उपस्थित किया। विधान (प्रथम संशोधन) एक्ट द्वारा, जिसे १८ जून सन् १९५१ को राष्ट्रपति ने स्वीकृत किया था, विधान की कुछ महत्त्वपूर्ण धाराओं में परिवर्तन किया गया। इस संशोधन एक्ट द्वारा जो मुख्य परिवर्तन किए गए उनका वर्णन संक्षेप में निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

प्रथम, इस संशोधन एक्ट का प्रभाव हमारे विधान की धारा १६ पर पड़ा है जिसका सम्बन्ध जनता के ‘स्वातन्त्र्य-अधिकार’ से है। धारा १६ की उपधारा ‘१’ की उपधारा ‘अ’ द्वारा समस्त नागरिकों को भाषण और भाव-प्रकाशन का अधिकार

1. “In India, we have a strange habit of making Gods of various things and adding to our innumerable pantheon and having given them our theoretical worship, doing exactly the reverse. So, if we wish to kill this constitution, let us make it, sacred and sacrosanct , a constitution, if it is to live must be adaptable, flexible and changeable.”

—Mr. Jawahar Lal Nehru.

प्रदान किया गया है। हमारे विधान की धारा १६ की उपधारा '२' द्वारा इस अधिकार पर एक प्रतिबन्ध भी लगा दिया गया था कि मौखिक अथवा लिखित रूप में अप्रसिद्धि, न्यायालय का अनादर, नैतिकता से सम्बन्धित विषय, राज्य के विरुद्ध पड़यन्त्र रचने आदि के सम्बन्ध में जो कानून इस अधिकार को प्रदान किए जाने से पूर्व प्रचलित थे वे कानून अब भी लागू रहेंगे। इस अधिकार के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध लागू करने के लिए राज्य को यह अधिकार था कि कुछ नवीन कानूनों का निर्माण करे। इस प्रकार के प्रतिबन्धों के औचित्य एवं अनौचित्य के सम्बन्ध में इससे पूर्व हमारे विधान में किसी बात का वर्णन नहीं था। यदि इस अधिकार के प्रयोग द्वारा विदेशी राज्यों के प्रति मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध अथवा जन सुरक्षा पर आघात पहुँचने की सम्भावना हो अथवा किसी अपराध के घटित होने की सम्भावना हो तो इस अधिकार के प्रयोग पर राज्य कुछ प्रतिबन्ध लगा सकेगा या नहीं, इस सम्बन्ध में भी विधान मौन था। इस संशोधन एक्ट द्वारा इन्हीं रिक्त स्थानों की पूर्ति की गई है। अब राज्य इस अधिकार के प्रयोग के सम्बन्ध में उचित प्रतिबन्ध लागू कर सकता है। 'उचित' शब्द उस समिति द्वारा रखा गया था जिसके पास यह संशोधन प्रस्ताव विचारार्थ भेजा गया था। इस 'उचित' शब्द द्वारा ही इन प्रतिबन्धों का औचित्य एवं अनौचित्य न्यायालय द्वारा निश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार भाषण और भाव-प्रकाशन के इस अधिकार के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लगाने में कार्यकारिणी अब निरंकुशता से काम नहीं ले सकेगी। विदेशी राज्यों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, जन सुरक्षा आदि के हितार्थ ही सरकार इस अधिकार के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा सकती है।

द्वितीय, इस संशोधन एक्ट का सम्बन्ध धारा १६ की उपधारा 'ग' से है जिसका सम्बन्ध कोई भी व्यापार, व्यवसाय करने अथवा जीविकोपार्जन के अधिकार की स्वतंत्रता से है। इससे पूर्व वे ही कानून लागू थे जिनके द्वारा इस अधिकार के प्रयोग के सम्बन्ध में उचित प्रतिबन्ध लगाए जाते थे। यह प्रतिबन्ध किसी विशेष व्यवसाय के सम्बन्ध में विशेष योग्यताएँ निर्धारित करने के रूप में भी हो सकते थे। 'उचित' शब्द से यह स्पष्ट है कि इन प्रतिबन्धों के औचित्य एवं अनौचित्य का निर्णय किसी न्यायालय द्वारा किया जा सकता था। परन्तु इस संशोधन एक्ट द्वारा इन प्रतिबन्धों के सम्बन्ध में 'उचित' शब्द का लोप कर दिया गया है। इस सम्बन्ध में देश के न्यायालयों को कोई अधिकार नहीं होगा। इस संशोधन एक्ट द्वारा राज्य को यह अधिकार भी प्रदान किया गया है कि वह नागरिकों के साथ से अथवा स्वतंत्र रूप से कोई भी व्यापार अथवा व्यवसाय कर सकता है। इस सम्बन्ध में बनाए गए कानूनों पर भी न्यायालयों का कोई अधिकार नहीं होगा अर्थात् इस अधिकार के प्रयोग पर लगाए गए प्रतिबन्धों के औचित्य के सम्बन्ध में भारतवर्ष का कोई नागरिक प्रश्न नहीं कर सकेगा। इस संशोधन एक्ट की इस धारा द्वारा व्यवसाय और व्यापारों पर से वैयक्तिक सत्ता नष्ट करने और राष्ट्रीयकरण के द्वार खोलने का प्रयास किया गया।

इस प्रकार हमारे विधान में राज्य के समाजवाद के विकास के लिए भी एक अंग सुरक्षित हो गया ।

तृतीय, प्रथम संशोधन एक्ट द्वारा विधान की धारा ३१ में भी कुछ परिवर्तन किया गया है जिस का सम्बन्ध सम्पत्ति के अधिकार से है । ३१ (अ) और ३१ (ब) यह दो धाराएँ और जोड़ दी गई हैं । राज्य द्वारा किसी सम्पत्ति को ग्रहण करने से सम्बन्धित कानून धारा ३१ (अ) के अन्तर्गत सुरक्षित माने गए हैं । किसी सम्पत्ति अथवा किसी अधिकार को ग्रहण करने अथवा इन अधिकारों को समाप्त करने अथवा संशोधित करने के सम्बन्ध में राज्य कानूनों का निर्माण कर सकेगा । उन्हें इसी आधार पर अनुचित नहीं माना जाएगा कि हमारे विधान की धारा ३१ की उपधारा २ द्वारा जनता को प्रदान किए गए सम्पत्ति के अधिकारों के यह विरुद्ध हैं ।

इस धारा के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया है कि सम्पत्ति के ग्रहण करने के सम्बन्ध में यदि कोई कानून किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा द्वारा निर्मित है तो यह धारा वहाँ उसी समय लागू होगी जब वह कानून राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखा गया हो और उस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्रदान की जा चुकी हो । इस प्रकार सम्पत्ति के अधिकार के आवरण में ज़मींदारी और जागीरदारी जैसी अमानुषिक प्रथाओं को सुरक्षित नहीं रखा जा सकेगा । एक्ट की नवीं नामावली के अन्तर्गत प्रस्तावित भूमि और उसके सुधारों की समस्या से सम्बन्धित कुछ कानूनों और नियमों को धारा ३१ (ब) द्वारा उचित एवं कानूनी घोषित किया गया है । धारा ३१ (ब) द्वारा उन कानूनों को भी उचित घोषित किया गया है जिन्हें न्यायालय द्वारा अनुचित घोषित किया गया हो । नवीं नामावली के अन्तर्गत प्रस्तावित यह एक्ट अनुक्रमणिका में दे दिए गए हैं । इस प्रकार धारा ३१ (ब) के द्वारा सन् १९५० के बिहार भूमि सुधार एक्ट, सन् १९५० के उत्तरप्रदेश ज़मींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार एक्ट, इत्यादि को कानूनी घोषित किया गया है । सारांश यह कि हमारे समाज की इन प्राचीन प्रथाओं को कानूनी सिद्धान्त और अयुक्तिपूर्ण तर्क-वितर्क द्वारा सुरक्षित नहीं रखा जा सकता ।

चतुर्थ, इस संशोधन एक्ट द्वारा विधान की धारा ८५ में एक गौण परिवर्तन किया गया है जिसका सम्बन्ध व्यवस्थापिका सभा के आमन्त्रित करने तथा स्थगित करने और लोक सभा के विसर्जित करने से है । इससे पूर्व यह निश्चित किया गया था कि प्रत्येक वर्ष में संसद के कम से कम दो अधिवेशन हुआ करेंगे और एक अधिवेशन की अंतिम बैठक तथा द्वितीय अधिवेशन की प्रथम बैठक के मध्य का समय ६ मास से अधिक न होगा । परन्तु संशोधन एक्ट में संसद के दो अधिवेशनों की भाग को त्याग कर ६ मास की धारा को स्थायी रखा गया है । यदि एक अधिवेशन ही अधिक समय ले ले तो यह सम्भव है कि वर्ष में एक ही अधिवेशन हो । एक अधि-

क्वेशन की अंतिम बैठक और द्वितीय अधिवेशन की प्रथम बैठक के मध्य का समय साम से अधिक अब भी नहीं होगा।

पंचम, संशोधन एक्ट द्वारा विधान की धारा ८७ और १७६ में भी व परिवर्तन किए गए हैं जिनका सम्बन्ध क्रमशः संसद में राष्ट्रपति और राज्य की व्यवस्थापिका सभाओं में राज्यपालों द्वारा दिए जाने वाले भाषण से है। इससे पूर्व व्यवस्था थी कि राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल को प्रत्येक अधिवेशन के आरम्भ में व्यवस्थापिका सभा में भाषण देना पड़ता था। परन्तु अब यह प्रतिपादित कर दिया गया है। राष्ट्रपति केवल लोक सभा के सामान्य निर्वाचन के पश्चात् होने वाले प्रथम अधिवेशन और प्रत्येक वर्ष के प्रारम्भिक अधिवेशन में ही भाषण दिया करेगा। इस प्रकार राज्यपाल केवल व्यवस्थापक समिति के सामान्य निर्वाचन के पश्चात् होने वा प्रथम अधिवेशन और प्रत्येक वर्ष के प्रारम्भिक अधिवेशन में भाषण दिया करेगा इससे पूर्व यह व्यवस्था थी कि भाषण में संकेत किए गए कुछ विषयों के सम्बन्ध संसद अथवा व्यवस्थापिका सभा को अन्य विषयों से पूर्व वाद-विवाद करना पड़ था। परन्तु इस संशोधन एक्ट के अन्तर्गत इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया।

षष्ठ, धारा ३४१ और धारा ३४२ में भी कुछ गौण परिवर्तन किए गए हैं इस सम्बन्ध में केवल शब्दावली में ही अन्तर किया गया है, उसके अर्थ में नहीं और इस प्रकार एक वैधानिक आलोचक की दृष्टि से उनका कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं है, अतएव यहाँ उनका वर्णन नहीं किया गया है।

सप्तम, इस संशोधन एक्ट द्वारा धारा ३७२ में भी कुछ गौण परिवर्तन किए गए हैं जिसका सम्बन्ध प्रचलित कानूनों के लागू रहने से है। इससे पूर्व राष्ट्रपति को विधान द्वारा यह अधिकार सौंपा गया था कि इस विधान के लागू होने के वर्ष के समय में वह किसी कानून के सम्बन्ध में परिवर्तन कर सकता था परन्तु अब यह अधिकार बढ़ा कर तीन वर्ष कर दी गई है।

अन्तिम, इस संशोधन एक्ट द्वारा धारा ३७६ में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किया गया है जिसका सम्बन्ध हाई कोर्ट के न्यायाधीशों से है। धारा के अन्तर्गत यह प्रतिपादित किया गया था कि किसी प्रान्त की हाई कोर्ट के न्यायाधीश जो इस विधान के लागू होने से पूर्व तक अपने पद पर आसीन थे, अब राज्य की हाई कोर्ट के न्यायाधीश रहेंगे यदि उनकी इच्छा इसके विपरीत न हो। इस धारा में उन न्यायाधीशों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया था जो भारतवर्ष के नागरिक न थे। संशोधन एक्ट के अन्तर्गत यह प्रतिपादित किया गया है कि :

“इस प्रकार का कोई न्यायाधीश, इस बात का ध्यान न रखते हुए कि वह भारतवर्ष का नागरिक नहीं है, इस प्रकार की हाई कोर्ट का प्रधान न्यायाधीश अथवा

किसी अन्य हाई कोर्ट का प्रधान न्यायाधीश अथवा न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किए जाने योग्य होगा ।”

इस प्रकार इस धारा के अनुसार वर्तमान भारतवर्ष के चार अभारतीय न्यायाधीश भी अपने भविष्य के बारे में आशावादी हो सकते हैं, और भारतवर्ष के समस्त न्यायाधीश अपनी उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं ।

उपसंहार

संक्षेप में सन् १९२१ के विधान (प्रथम संशोधन) एक्ट का सार यहो है । उपर्युक्त वर्णन पर सामान्य सी दृष्टि डालने से हमारे विधान के ज्ञाता यह भली भाँति समझ सकते हैं कि इस प्रथम संशोधन एक्ट द्वारा हमारे विधान में महत्वपूर्ण सुधार हुए हैं । इसके साथ यह दृढ़ सम्भावना और शंकाएँ भी नष्ट हो जाती हैं कि यह विधान पूँजीपतियों को आश्रय देने वाला होगा । इसके शुभ पदार्पण के साथ ही हमारे देश की जागीरदारी और ज़मींदारी प्रथाएं भी विलीन हो गईं । इन सबके अतिरिक्त संशोधन एक्ट समाजवाद के एक नवीन युग का—व्यवसायों के राष्ट्रीयकरण और पूँजीवाद के अन्त का श्रीगणेश करता है । पूँजीपति और उनके अमानुषिक शस्त्रों की रक्षा अब कोई न्यायालय भी नहीं कर सकेगा । परन्तु यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस संशोधन एक्ट के साथ-साथ ही भाषण और भाव प्रकाशन के अधिकार के अत्यन्त न्यून होने का भय भी है, विशेष रूप से हमारे देश की विदेशी नीति के सम्बन्ध में । विधान (प्रथम संशोधन) एक्ट के लाभ अधिक है अथवा हानियाँ.....यह तो भविष्य ही बतला सकेगा ।

अनुक्रमणिका १

सन् १९५२ के प्रतिबन्धक अवरोध (द्वितीय संशोधन) एक्ट की धाराएँ

- (१) यह एक्ट ३१ दिसम्बर, सन् १९५४ तक लागू रहेगा। नवम्बर सन् १९५३ में विभिन्न राज्यों की सरकारों की सम्मति प्राप्त कर इसका पुनर्निरीक्षण किया जाएगा।
- (२) प्रत्येक प्रकार के विषय में अवरोध का अधिक से अधिक समय अवरोध के दिनांक से बारह मास होगा।
- (३) बिना किसी भेद भाव के प्रत्येक विषय अवरोध के दिनांक से ३० दिन के समय में एक परामर्शदात्री संस्था (प्रथम संशोधन १९५१) के सन्मुख उपस्थित किया जाएगा। यह संस्था निश्चित दिनांक से दस सप्ताह के समय में अपनी रिपोर्ट उपस्थित करेगी।
- (४) अवरोध का आदेश प्रदान कर ज़िलाधीश उस आदेश को तुरन्त ही राज्य की सरकार के पास भेज देगा और उस विषय से सम्बन्धित अन्य महत्वपूर्ण सूचनाएँ भी उसे उपस्थित करनी होंगी। राज्य की सरकार उसे अधिक से अधिक बारह दिन के समय में स्वीकृत कर सकती है।
- (५) अवरोध का कारण तथा ऐसी अन्य बातें जिनकी सहायता से उसे अपने बचाव में सरलता हो, व्यक्ति को शीघ्रातिशीघ्र (अवरोध के दिनांक से चौदह दिन के समय में) बतला दी जाएँगी। उसे इस प्रकार की कोई सूचना नहीं दी जाएगी जिससे जनहित अथवा जनसुरक्षा के स्थायी रखने में बाधा पहुँचे।
- (६) अवरोध के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :
(अ) राज्य-सुरक्षा; (ब) जन सुरक्षा और शान्ति; (स) आवश्यक सामग्री; (द) विदेशी सम्बन्ध।
- (७) विषय के उपस्थित किए जाने के समय उस व्यक्ति को यह अधिकार नहीं होगा कि अपने पक्ष की ओर से वह किसी धर्मज्ञ को नियुक्त करले। उसे अपने विषय की अपील का अधिकार होगा। अपील उसकी इच्छानुसार नियुक्त किए गए

धर्मश्रु द्वारा तैयार हो सकती है। (इस अधिकार का निश्चय भी विभिन्न राज्यों की सरकारों की सम्मति द्वारा निश्चित किया जायगा) ।

- (८) संस्था किसी अन्य सरकार अथवा उस व्यक्ति से भी कुछ अन्य सूचना प्राप्त कर सकती है। यह सूचना ज़िलाधीश की सूचना के अतिरिक्त होनी चाहिए। किसी अन्य व्यक्ति द्वारा भी यह सूचना प्राप्त की जा सकती है।
 - (९) अवरोध का नया आदेश उसी समय प्रस्तावित किया जा सकता है जब प्रथम अवरोध के आदेश की अवधि के समाप्त होने के पश्चात् कुछ नवीन घटनाएँ उपस्थित होने लगी हों।
 - (१०) परामर्शदात्री संस्था की कार्य प्रणाली भारतवर्ष में समान होगी, और इस प्रकार की प्रणाली का निश्चय संसद अपने कानून द्वारा करेगी।
-

अनुक्रमणिका २

भारतीय विधान की चतुर्थ नामावली और सन् १९५० के जन प्रतिनिधात्मक एक्ट (अथवा सन् १९५० का XLIII एक्ट) की तीन नामावलियों से संकलित संघ की संसद् और विभिन्न राज्यों की व्यवस्थापिका सभाओं की अनुमानित जन-संख्या और स्थान वितरण ।

राज्य का नाम	१ मार्च सन् १९५०	संसद्	राज्यों की व्यवस्थापिका सभाएँ			
	जनसंख्या	राज्य	जन	व्यवस्थापिका	व्यवस्थापक	
		परिषद्	परिषद्	समिति	परिषद्	
भाग 'अ' के राज्य						
१. आसाम	८,५१०,०००	६	१२	१०८	...	...
२. बिहार	३६,४२०,०००	२१	५५	३३०	७२	...
३. बम्बई	३२,६८०,०००	१७	४५	३१५	७२	...
४. मध्यप्रदेश	२०,६२०,०००	१२	२६	२३२	...	...
५. मद्रास	५४,२६०,०००	२७	७५	३७५	७२	...
६. उड़ीसा	१४,४१०,०००	६	२०	१४०	...	...
७. पंजाब	१२,६१०,०००	८	१८	१२६	४०	...
८. उत्तर प्रदेश	६१,६२०,०००	३१	८२	४३०	७२	...
९. पश्चिमी बंगाल	२४,३२०,०००	१४	३४	३२८	५१	...
जोड़	२६८,७८०,०००	१४५	३७४	२,२६४	३७६	...

भाग 'ब' के राज्य

१. हैदराबाद	१७,६६०,०००	११	२५	१७५	...	...
२. जम्मू और काश्मीर	४,३७०,०००	४	६	...	...	...
३. मध्य भारत	७,८७०,०००	६	११	६६	...	...
४. मैसूर	८,०६०,०००	६	११	६६	४०	...
५. पेप्सू	३,३२०,०००	३	५	६०	...	...
६. राजस्थान	१४,६६०,०००	६	२०	१६०	...	...
७. सौराष्ट्र	३,६६०,०००	४	६	६०	...	...
८. ट्रावनकोर कोचीन	८,५८०,०००	६	१२	१०८	...	...
जोड़	६८,५४०,०००	४६	६६	७६१	४०	...

राज्य का नाम	१ मार्च सन् १९५०	संसद	राज्यों की व्यवस्थापिका
	को अनुमानित जन-		सभाएँ
	संख्या	राज्य	जन
		परिषद्	परिषद्
			व्यवस्थापक
			समिति
			व्यवस्थापिक
			परिषद्

भाग 'स' के राज्य

१. अजमेर	७३०,०००	१	२	३०
२. कुर्ना	१७०,०००		१	२८
३. भूपाल	८५०,०००	१	२	३०
४. बिलासपुर	१३०,०००	१	१	५
५. हिमाचल प्रदेश	१,०८०,०००		३	३७
६. देहली	१,५१०,०००	१	४	४०
७. कूच	५५०,०००	१	२	...
८. मनीपुर	५४०,०००	१	२	...
९. त्रिपुरा	५८०,०००		२	...
१०. विंध्य प्रदेश	३,८८०,०००	४	६	६०

११. अंडमान और

निकोबार द्वीप-

समूह १

जोड़	१०,०२०,०००	१०	२६	२३०
कुल जोड़	३४७,३४०,०००	२०४	४२६	३,२८५
				४१६

अनुक्रमणिका ३

नवीं नामावली

(धारा ३१ ब)

(प्रथम संशोधन एक्ट के अनुसार)

1. The Bihar Land Reforms Act, 1950 (Bihar Act XXX of 1950).
2. The Bombay Tenancy and Agricultural Lands Act, 1948 (Bombay Act LXVII of 1948).
3. The Bombay Maleki Tenure Abolition Act, 1949 (Bombay Act LXI of 1949).
4. The Bombay Taluqdari Tenure Abolition Act, 1949 (Bombay Act LXII of 1949).
5. The Panch Mahals Mehwassi Tenure Abolition Act, 1949 (Bombay Act LXIII of 1949).
6. The Bombay Khoti Abolition Act, 1950 (Bombay Act VI of 1950).
7. The Bombay Paragana & Kulkarni Watan Abolition Act, 1950 (Bombay Act LX of 1950).
8. The Madhya Pradesh Abolition of Proprietary Rights (Estates, Mahals, Alienated Lands) Act, 1950 (Madhya Pradesh Act 1 of 1951).
9. The Madras Estates (Abolition and Conversion into Ryotwari) Act, 1948 (Madras Act XXVI of 1948).
10. The Madras Estates (Abolition and Conversion into Ryotwari) Amendment Act, 1950 (Madras Act 1 of 1950).
11. The Uttar Pradesh Zamindari Abolition and Land Reforms Act, 1950 (Uttar Pradesh Act 1 of 1951).
12. The Hyderabad (Abolition of Jagirs) Regulation, 1358 F. (No. LXIX of 1358 Fasli).
13. The Hyderabad Jagirs (Commutation) Regulation, 1359 F. (No. XXV of 1359, Fasli).

